# स्नेह-भेंट—

अपने उन साथी "कलम के मजदूरों" को

जिनकी लेखनी के

एक ही झटके से बड़े-बड़े साम्राज्य बनते और बिगड़ते हैं।

कलम के उन मजदूरों को

जो

गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण करते हैं

किन्तु

कभी भी इतिहास के पन्नों पर आने की चेष्टा नहीं करते।

जो

धूल-भरी धरती पर बैठकर समय की गति का

नियंत्रण करते हैं और

जिन्हें

विस्मृति निगलकर भी पचा नहीं पाती, उगल देती है।

—वियोगी

# दो शब्द

आज २६ जनवरी, १९५० है।

अभी-अभी मैंने रेडियो से सुना है, दिल्ली से "गणतन्त्र" की स्थापना का शुभ संदेश सुनाया जा रहा है। तोपों की गड़गड़ाहट के बीच में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद घोषणा कर रहे हैं--"आज से देश में न कोई राजा रहेगा और न प्रजा, या सभी राजा रहेंगे या प्रजा।" गणतन्त्र का यह अत्यन्त मूल्यवान् मंत्र है।

देश ने पहले औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त किया। हम ब्रिटिश-राष्ट्रमंडल के एक सदस्य के रूप में स्वतन्त्र हुए। ब्रिटिश ताज की सत्ता वैधानिक रूप में हमपर थी यद्यपि हम स्वतन्त्र थे, आजाद थे। यह "ताज की सत्ता" चाँद के कलंक की तरह हमपर लदी थी। हमारे दिलों में से यह आवाज रह-रहकर उठती थी कि क्या हमने इतने कीमती बलिदान 'ब्रिटिश ताज' की छाया में रहने के लिए ही की थी? हमारा मन रह-रहकर उदास हो जाता था और हम चाहते थे कि हमारे आकाश के नीचे हमारा झडा लहराये और हम अपने भाग्य के स्वयम् स्वामी बनें। यद्यपि श्रीराजगोपालाचारी हमारे गवर्नर जेनरल थे और वायसराय (सम्राट् के प्रतिनिधि) का पद समाप्त हो गया था फिर भी हमें तो राष्ट्रपति चाहिए जो हमारे द्वारा चुना जाय।

औपनिवेशिक स्वराज्य भारत के लिए कलंक था। परिस्थितिवश हमें इस कड़वी घूँट को भी पीना पड़ा। समय आया और हमने अपने मन से अपना विधान बनाकर संसार को यह दिखला दिया कि गुलामी के रहे-सहे चिह्नों को भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। हमें पूर्ण स्वतन्त्र होना है और हम आज पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करके निश्चिन्त हो गये। हमने जैसा विधान बनाया है वह सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है। हमारे विधान-निर्माता देश के श्रेष्ठ विद्वान और विधानशास्त्री रहे हैं और अध्यक्ष थे महामहिम डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी। जिस विधान के अनुसार हमारी स्वतन्त्रता का विकास होगा और सब-से आनन्द की बात तो यह है कि उस विधान को ठीक-ठीक लागू करने का और उसे सफल बनाने का भार भी विधान-परिषद् के अध्यक्ष को ही राष्ट्रपति का पद देकर सौंपा गया। हमारे विधान के रूप को ठीक करने में छः विद्वानों की एक समिति बनाई गई थी जिसके प्रधान थे न्यायमंत्री डॉ अम्बेदकर और शेष ५ सदस्य—

श्री गोपालस्वामी आयंगर

श्री अल्लादि कृष्णस्वामी ऐयर

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

श्री कृष्णमाचारी और

मौ० सैयद मुहम्मद सादुल्ला

हमारा विधान किस तरह बनाया गया उसकी एक सूची नीचे दी जाती है—

| | | |
|---|---|---|
| (१) | विधान-परिषद् के सदस्यों की संख्या | ३०८ |
| (२) | विधान-परिषद् की पहली बैठक | ९ दिसम्बर १९४६ |
| (३) | परिषद् की अंतिम बैठक | २६ जनवरी १९५० |
| (४) | विधान बनाने में जो समय लगा | २ वर्ष ११ म० १८ दिन |
| (५) | कितने अधिवेशन हुए | ११ |
| (६) | दर्शक कितने आये | ५३००० |
| (७) | विधान-परिषद् पर कुल खर्च | ६३,९६,७२९) |
| (८) | वैधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किये गये विधान के मसविदे की विषय-सूची | २४३ धारायें, १३ परिशिष्ट |
| (९) | विधान के मसविदे में कितने संशोधनों की नोटिस मिली | ७६३५ (लगभग) |
| (१०) | अन्तिम रूप में स्वीकृत विधान की विषय-सूची | ३९५ धारायें और ८ परिशिष्ट |

विधान का यह संक्षिप्त इतिहास देश की घटनाओं में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। ३०८ सदस्यों ने २ साल ११ महीने और १८ दिनों में देश का विधान तैयार कर दिया और देश के जीवन में नये प्रभात का प्रकाश फैला दिया। केवल पौने चौंसठ

करोड़ रुपये खर्च कर देश ने नये जीवन का एक पथ-प्रदर्शक विधान के रूप में पाया।

भारत के अतिरिक्त संसार के दूसरे कई देशों ने भी अपने विधान बनाये थे। यहाँ पर उनकी चर्चा भी कर देना जरूरी है।

| | | |
|---|---|---|
| १. अमेरिका | ४ महीने | ७ धाराओं के लिए |
| २. कनाडा | २ साल ५ महीने | १४७ धारायें |
| ३. आस्ट्रेलिया | ९ वर्ष | १२८ धारायें |
| ४. दक्षिण अफ्रिका | १ वर्ष | १५३ धारायें |

और

| | | |
|---|---|---|
| ५. भारत | २ वर्ष ११ महीने १८ दिन | ३९५ धारायें ८ परिशिष्ट और २४७३ संशोधन |

क्या इतने कम समय में इतना व्यापक विधान का बनाया जाना संभव है जबकि देश में अलग-अलग आचार-व्यवहार और जातियों का अन्त नहीं है। विधान ऐसा होना चाहिए जो देश के सभी वर्गों में भरोसा और एकता उत्पन्न करे तथा सबके विकास के लिए हो और आज इसी पूर्ण विधान के अन्तर्गत देश में गणतन्त्र की स्थापना हुई है और देश को पूर्ण स्वतन्त्रता का संदेश दिल्ली से दिया गया है।

२६ जनवरी को ठीक १० बजकर २० मिनट पर सवेरे

गणराज्य की घोषणा अन्तिम गवर्नर जनरल श्रीराजगोपालाचार्य ने की। १०-२९ पर राष्ट्रपति ने शपथ ग्रहण की—आपने राष्ट्रभाषा में ही शपथ ली। राष्ट्रपति का पहला भाषण जो उन्होंने पद-ग्रहण करते समय दिया वह भारत के इतिहास का एक चमकता हुआ रत्न माना जायगा; क्योंकि अपने इस संक्षिप्त भाषण में राष्ट्रपति ने गणतन्त्र की पूरी रूपरेखा दे दी है। राष्ट्रपति ने कहा—

"इतिहास में यह पहला अवसर है जब सारा देश काश्मीर से कन्याकुमारी तक और काठियावाड़ और कच्छ से कोकोनाड़ा और कामरूप तक एक संविधान के शासन-सूत्र में बँधकर बत्तीस करोड़ मनुष्यों के सुख-दुःख की जिम्मेदारी अपने हाथों में ले रहा है और उसका सब कारोबार सम्हाला जा रहा है। इस देश में आज से न कोई राजा रहा और न प्रजा, या तो सब-के-सब राजा या सब प्रजा।"

हमारे गणराज्य के उद्देश्य बतलाते हुए राष्ट्रपति ने कहा—

"हमारे गणराज्य का उद्देश्य यह है कि हम न्याय, स्वाधीनता, समता, और भ्रातृभाव का देश में प्रचार करेंगे जहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले, भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले, भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार बरतनेवाले बसते

हैं। सभी दूसरे देशों के साथ मैत्री रखते हुए अपने देश की सर्वतोमुखी और सर्वांगीण उन्नति हमारा लक्ष्य है। आज गरीबी, बीमारी, अशिक्षा और अज्ञान को घटाना हमारा कार्यक्रम है।"

इसी प्रतिज्ञा के साथ गणतन्त्र की स्थापना अपने देश में हुई है तथा भारत के सभी योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति एक मन-प्राण होकर इस गणतन्त्र के पूर्ण विकास में लगे हुए हैं।

लम्बी गुलामी और संघर्ष के बाद आज हम स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्र हवा में साँस ले रहे हैं। औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने के ठीक ८९४ दिन बाद भारत पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणतन्त्र के अन्तिम मंजिल पर पहुँच गया। इतनी जल्दी इतना बड़ा रास्ता तय करने का जो उदाहरण भारत ने दिया है वह एक आश्चर्यजनक प्रगति है। हमारे उन नेताओं ने जिन्होंने ऐसे कठिन समय में देश को सँभाला और पूर्णस्वतन्त्रता के गौरवपूर्ण मंजिल तक उसे पहुँचाया; न केवल भारत के ही सामने, बल्कि संसार के सामने एक शानदार उदाहरण उपस्थित कर दिया है। बड़ी बात सोचने और बोलने में कोई संकट नहीं है; किन्तु बड़े-बड़े काम करने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है इसका अनुभव सबको नहीं हो सकता। गणतन्त्र भारत आज संसार के उन महादेशों की पाँत में पूर्ण गौरव के साथ खड़ा है

इसका श्रेय राष्ट्रपिता बापू को है जो आज नहीं रहे और जनता इस आनन्द के अवसर पर उनकी वाणी नहीं सुन सकी। कैसा अच्छा होता यदि २६ जनवरी को जब गणतन्त्र की स्थापना हो रही थी, बापू का आशीर्वाद इस नवोदित राष्ट्र को प्राप्त होता। एक बात यह भी विचारणीय है कि बापू-जैसे युगावतार 'काल' के प्रभाव में नहीं आते। वे अमर हैं। जब तक संसार को या भारत को उनकी आवश्यकता थी वे हमारे बीच में थे और जब उनकी पुकार हुई, वे लौट गये प्रभु के चरणों में!

सैकड़ों साल की गुलामी और पीड़ा के बाद भारत आज स्वतन्त्र हुआ है। स्वतन्त्रता इसे भीख में नहीं मिली। महात्मा गान्धी-जैसे महापुरुष के नेतृत्व का फल है कि देश ने अपने सारे बन्धनों को तोड़ फेंके हैं; किन्तु स्वतन्त्र हो जाने के बाद देशवासियों के सामने कर्तव्य का और भी गम्भीर रूप उपस्थित हो जाता है। किसी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर लेना ही सब-कुछ नहीं है—पाई हुई वस्तु को सँभालकर रखना, उसकी रक्षा करना परम आवश्यक है। हम अपने गणतन्त्र की रक्षा के लिए आज प्रतिज्ञाबद्ध हैं। आज भारत के आकाश पर भारत के हवाई जहाजों का राज्य है, आज भारत के सागर पर भारत के मजबूत जहाजों का राज्य है और भूमि पर—भारत की भूमि पर—हमारा राज्य है। हम छोटे हों या बड़े, किसी वर्ग या धर्म के हों, इस एकता की भूमि पर सब बराबर हैं—राजा या

प्रजा हम सब कुछ हैं। यह देश हमारा है, सरकार हमारी है, सेना, पुलिस, खजाने सब हमारे हैं—हम भारत के हैं और भारत हमारा है।

इस तरह संघर्ष और उथल-पुथल के बाद हमने वह स्वतन्त्रता पाई जिसकी ओर हमारे लोकनायक हमें प्रेरित करते रहे। स्वतन्त्रता पा जाने के बाद हमारे कर्तव्य और भी बढ़ जाते हैं और हमें सदा देश को आगे बढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए। हमें एक भी काम ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे देश की प्रगति में विघ्न पैदा हो या उसकी शान में बट्टा लगे या हमारी स्वतन्त्रता के लिए खतरा पैदा हो जाय। अब हमारा प्रत्येक कदम देश-हित के लिए हो और हम देश के लिए ही जीवित रहें और देश के लिए ही मरें। भगवान् हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगे।

---

# स्वतन्त्रता कैसे आई

## हमारा देश

इसके पहले कि हम स्वतंत्रता के संघर्षों और उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी घटनाओं पर विचार करें, हमारे लिए आवश्यक होगा कि हम अपने इस विशाल देश को जान लें। इस देश का नाम आर्यावर्त, भारतवर्ष और सरकार के द्वारा स्वीकृत नाम भारत है। हिन्द और हिन्दुस्तान भी इसे कहते हैं। अब इस देश का नाम निश्चित रूप से भारत रख दिया गया है—दूसरे नामों का सरकारी महत्त्व नहीं रहा।

हमारा भारत एक महादेश है। चीन के बाद इतनी आबादी किसी भी देश की नहीं है जितनी भारत की है। पाकिस्तान होने के पहले १९४१ की जनगणना के अनुसार हम ३९ करोड़ थे; किन्तु पाकिस्तान के बाद बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। भूमि के बँटवारे के साथ आबादी में भी काफी अदल-बदल हुई। यहाँ से कितने व्यक्ति गये और कितने आये इसका हम अनुमान ही कर सकते हैं, निश्चित संख्या अभी तक उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह अनुमान

किसी हद तक सही है कि हम ३२ करोड़ से कम नहीं हैं। पंजाब दो हिस्सों में बँट गया। जो हिस्सा पाकिस्तान में पड़ा वह पच्छिम-पंजाब कहा जाता है। पच्छिम-पंजाब के हिन्दू भयंकर रूप से लूटे और मारे गये। करीब ७० लाख के, शरणार्थी के रूप में भारत आये और इनकी ४॥ अरब की सम्पत्ति पाकिस्तान में रह गई। करीब २५ लाख मुसलमान पाकिस्तान गये और यहाँ अनुमानतः ३०।४० करोड़ तक की सम्पत्ति छोड़ गये। पाकिस्तान ने कितनी स्त्रियों और बच्चों की लूट की इसका हम अनुमान भी नहीं लगा सकते। संसार के इतिहास में ऐसी भयानक बर्बादी का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। तथा-कथित बर्बर-अवस्था में भी मानव इतना नहीं गिरा था जितना वह आज पतित दिखलाई पड़ता है।

बंगाल के भी दो हिस्से हुए। पूरब बंगाल पाकिस्तान है। पूरब पाकिस्तान के हिन्दुओं को भी इसी तरह पाकिस्तान ने तबाह किया। अभी इस स्थिति में यह कहना कठिन है कि हमारे यहाँ की आबादी कितनी है। संभवतः संसार की पूरी आबादी के पाँचवाँ भाग हम हैं।

देश के जिस भाग में उपज की सुविधा है और रहने में सुविधा है उसी भाग में घनी आबादी है। गंगा, यमुना आदि स्वास्थ्यप्रद और उपज बढ़ानेवाली नदियों के आस-पास आबादी घनी है तथा इन या ऐसी जलभरी

नदियों की समतल और उपजाऊ भूमि में आबादी भरी हुई है। यही कारण है कि उत्तरप्रदेश (युक्तप्रान्त) की जनसंख्या दूसरे प्रान्तों से अधिक है। सारे देश के ८७ प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में ही बसे हुए हैं; क्योंकि हमारा देश आरंभ से अबतक कृषिप्रधान रहा है। हमारे देश में ६॥ लाख गाँव हैं और इन गाँवों में खेती का ही काम होता है। २७०० छोटे बड़े शहर हैं जिनमें केवल पूरी आबादी के १३ प्रतिशत व्यक्ति रहते हैं। यदि अच्छी तरह छानबीन की जाय तो इन १३ प्रतिशत व्यक्तियों में से कम-से-कम आधे से अधिक व्यक्ति ऐसे भी निकल जायँगे जो पेशे के चलते शहरों में बसे हुए हैं; किन्तु उनका घर गाँव में भी है और उनका पूरा लगाव खेती और गाँव से है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत गाँवों का ही देश है और यहाँ का प्रधान व्यवसाय खेती-बारी है। गाँवों में आबादी के ८७ प्रतिशत भाग रहने पर भी "नया युग" अभी तक वहाँ पूरी तरह अपना रूप विस्तार नहीं कर सका। यह बात अत्यन्त विचित्र है कि शहरों और गाँवों की संस्कृति में साफ अन्तर है। देहात के रहनेवाले शहर के रहनेवालों को हीन दृष्टि से देखते हैं और उनका विश्वास नहीं करते तथा शहर के रहनेवाले देहातियों को मूर्ख और गँवार समझते हैं। गँवार शब्द मूर्खता का पर्याय है यद्यपि

इसका अर्थ है "गाँव का रहनेवाला"। गाँव का निवासी होना ही मूर्खता है। शहरों की संस्कृति और विचार-प्रणाली को ही श्रेष्ठ माना गया है और साहित्य, कला आदि शहरी भावनाओं का ही प्रतिनिधि हैं। शहरों का एकाधिपत्य गाँवों पर है और इस तरह दोनों में सामंजस्य नहीं है। यद्यपि आवादी और उत्पादन आदि की दृष्टि से हमारा देश गाँवों का देश है; किन्तु गाँवों की प्रधानता कभी नहीं रही। गाँव सदा शहरों की गुलामी करते रहे और शहरों से गाँवों को कभी भी कुछ नहीं मिला। वड़े-वड़े अस्पताल, महाविद्यालय, सिनेमा, वड़े-वड़े रेलवे स्टेशन, सरकारी न्यायालय आदि सभी शहरों में हैं। डाक्टर, वकील, प्रेस, अखवार सभी शहरों में हैं। वड़ी-वड़ी दुकानें और व्यापारी, कारीगर और कलाकार सभी शहरों में हैं। देहातों में केवल मजदूर हैं, किसान हैं, रोग हैं, अशिक्षा और तवाही है। हमारे देश में दो तरह की संस्कृतियाँ प्रचलित हैं। देहाती संस्कृति और शहरी संस्कृति में गम्भीर पार्थक्य है। दोनों में ऐक्य स्थापित कभी नहीं हुआ। आज हम स्वतन्त्र हो गये हैं, संभव है, यह पार्थक्य मिटाया जाय और सुसंगठित भारत का नवजन्म हो। अच्छी-अच्छी सड़कों का भी गाँवों में पूर्णतः अभाव है। यातायात के साधन भी नाममात्र के हैं। छोटे वड़े ६॥ लाख गाँवों में वहुत-से ऐसे गाँव भी हैं

जहाँ बरसात के दिनों में जाना असंभव है और ऐसे बहुत-से गाँव भी हैं जहाँ तक पहुँचने का कोई समुचित साधन ही नहीं है। भारत के गाँवों को अन्धकार में रखा गया; क्योंकि उन्हें लूटना था। उनका विकास नहीं किया गया—इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि देश का ही विकास नहीं किया गया। ८७ प्रतिशत आबादी की उपेक्षा जानबूझ कर की गई। अशिक्षा और इसी तरह के दोषों का रहना, ऐसी दशा में स्वाभाविक है, जो हैं। यद्यपि ये गाँव ही भारत की रीढ़ रहे हैं फिर भी इन गाँवों को बिल्कुल ही अशिक्षा तथा दोषों का गढ़ बनाकर रखा गया। इन गाँवों तक वह प्रकाश नहीं पहुँचा जिससे भारत के ८७ प्रतिशत निवासियों को सब कुछ देखने का अवसर मिले। जन-चेतना का गाँवों में अभाव ही बना रहा, यद्यपि "भारत के कल्याण" के लिए अँगरेजों ने प्रायः डेढ़ सौ साल तक इसे गुलाम बना रखा।

हम अपने देश के सम्बन्ध में जब सोचने लगते हैं तो हमारे सामने उसका निर्धन रूप और अशिक्षा तथा रोग की दहला देनेवाली बातें स्पष्ट हो जाती हैं। हमारी यह दशा गुलामी की देन है। हमारा शोषण तो किया गया, किन्तु विकास नहीं किया गया। रूस को बाद देकर जितना बड़ा यूरोप है, यूरोप के सभी देश हैं, उतना बड़ा भारत है। हमारे देश में इतने बड़े-बड़े जिले हैं

कि यूरोप का एक-एक राज उतने बड़े क्षेत्रफल में है। आप "मैमनसिंह" को लीजिए। यह जिला बंगाल में है और स्वीट्ज़रलैंड से बड़ा है। ऐसा विस्तार है हमारे देश का। कृषिप्रधान देश रहने पर भी ४५-४६ करोड़ एकड़ खेती के योग्य भूमि यहाँ व्यर्थ पड़ी हुई है जिसकी ओर अब हमारी सरकार ने ध्यान देना आरंभ किया है। कपड़ा बुनने की मशीनों के अभाव में प्रायः २५/३० लाख गाँठ रूई विदेश चली जाती है। इतना ही नहीं, प्रायः २८५ लाख टन [ १ टन प्रायः २७॥ मन का होता है ] कोयला जलाकर हम खाक कर देते हैं—यह प्रतिवर्ष की हानि है। इतने कोयले से अलकतरा, रंग, गैस आदि वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है; किन्तु गुलाम भारत कारखानों के अभाव में बर्बाद होता रहा। १० लाख टन कच्चा लोहा हम विदेश भेजते हैं। यदि हमारे यहाँ कारखाने होते तो इनसे हम ।मोटर, साइकिल, हवाई जहाज, टैंक आदि सामान बनाते। हमारा यह हाल रहा है। हमारी तबाही कच्चा माल देकर बने हुए सामान खरीदने में है। आप एक सेर लोहे की कीमत कुछ रुपये या कुछ आने पाते हैं। उसी १ सेर लोहे की एक दीवाल-घड़ी बनकर आती है जिसे फिर हम पचास, सौ या हजार रुपये देकर खरीदते हैं। एक या दो हजार रुपये में हम १ सेर लोहा खरीदते हैं, जब वह किसी तैयार माल

के रूप में हमें मिलता है। यह पूँजीवादी लूट भारत को दरिद्र बनाकर बर्बाद कर चुकी है। गुलामी की स्थिति में हम अरबों रुपये इसी तरह गँवाते रहे—सोना, चाँदी का भी भयंकर शोषण हुआ; क्योंकि हम सोना या चाँदी के रूप में भी कीमत चुकाते रहे। संसार भर में जितना सोना है उससे अधिक केवल अमेरिका के पास है। आखिर इतना सोना उसके पास आया कहाँ से ?

सबसे भयालक बात यह थी कि ३१२० करोड़ रुपयों की पूँजी अँगरेजों की लगी हुई थी। कारखानों में, खानों में, बैंक और चाय के बागीचों में पूँजी लगाकर अँगरेज-शोषक सूद और मुनाफा के रूप में प्रतिवर्ष प्रायः २८००००००००) दो अरब अस्सी करोड़ रुपये भारत से ले जाते थे—पेंशनों का हिसाब तो अलग ही था जो अँगरेज आफिसरों को प्रतिवर्ष हम देते रहे। इन शोषणों के अतिरिक्त बहुत प्रकार के अप्रत्यक्ष शोषणों के द्वारा भी भारत के शरीर का रक्त चूसा जाता था। यह कथा तब की है जब हम गुलाम थे !

भारत की दरिद्रता विश्वविख्यात है, यद्यपि हम संसार के सर्वश्रेष्ठ देश के निवासी हैं। भारत पूर्ण साधन-सम्पन्न देश है। हमारे साधनों का विकास रोका गया फिर भी हम संसार की तुलना में क्या हैं यह समझने की बात है—

संसार में धान की जितनी पैदावार है उसका २६ वाँ भाग हमारे देश में पैदा होता है—प्रतिशत २६। इसी तरह आप समझें कि संसार की पैदावार के प्रतिशत २७ भाग चाय, २२ भाग तम्बाकू, १८ भाग चीनी, १६ भाग रूई, ७ भाग गोंद—यह हाल है हमारे उत्पादन का, फिर भी हम विदेश के मुखापेक्षी ही रहे। इन उत्पादनों को वैज्ञानिक पद्धति से बढ़ाया भी जा सकता है। जूट तथा अबरख आदि ऐसी चीजें भी हमारे यहाँ हैं जो संसार में कहीं भी इस रूप में नहीं हैं, फिर भी हमारी दरिद्रता का अन्त नहीं है। न तो हम अच्छा खा सकते हैं और न पहन ही सकते हैं। अच्छी शिक्षा दिलाना या स्वास्थ्य की उन्नति करना हम भारतीयों के भाग्य में कभी नहीं रहा। इतने बड़े देश में एक लाख के अन्दर ही विद्यार्थी कालेजों में शिक्षा पा रहे हैं और स्त्रीशिक्षा का हाल यह है कि उनकी संख्या नगण्य है।

प्रत्येक विद्यार्थी के लिए १९) औसत सालाना अँगरेजी सरकार खर्च करती थी जबकि भारत में अपने को कायम रखने के लिए वह प्रत्येक सिपाही सौ रुपये तक खर्च करती रही और अँगरेज-सिपाहियों के लिए तो इससे भी अधिक। यहाँ के स्कूल, विद्यालय 'क्लर्क' पैदा करते रहे। यदि इङ्गलैंड में आसानी से क्लर्क पाये जाते तो अँगरेजी सरकार यहाँ एक भी कालेज खुलने नहीं देती। शिक्षा-पद्धति

ऐसी थी कि अँगरेजी पढ़ लेने के बाद भारतीय भारतीय नहीं रह जाता था। अपने देश, संस्कार, धर्म सबके प्रति घृणा पैदा हो जाती थी। हमारे इतिहास का रूप भी बिगाड़ दिया गया था। शिक्षा-पद्धति इतनी बुरी रही है कि यहाँ डिग्री-प्राप्त मूर्खों की बाढ़-सी आ गई। भारतीयता का नाश और अभारतीयता का विकास यही हमारी शिक्षा-पद्धति की देन है। यहाँ प्रतिशत १० व्यक्ति साक्षर हैं, जिन्हें केवल लिखना-पढ़ना मात्र आता है। शेष ९० पूरे अशिक्षित हैं, जबकि इङ्गलैंड में ९९ प्रतिशत शिक्षित हैं और एक व्यक्ति अक्षरज्ञान-सम्पन्न। दरिद्रता, अशिक्षा और कुसंस्कारों को जान-बूझकर भारत के सिर पर लादा गया। रोग, मौत और कोढ़ियों का तो वर्णन ही व्यर्थ है। भारत में जितने कोढ़ी और अन्धे हैं उतने कहीं भी नहीं हैं। गुलामी ने धन का ही शोषण नहीं किया; बल्कि उसने अच्छी तरह हमें रौंदकर बर्बाद किया—ऐसा बर्बाद कर दिया कि सँभलते-सँभलते भी काफी समय और श्रम लगेगा। हमारी सरकार के सामने यह प्रश्न प्रधान रूप से उपस्थित है। हमारा देश खनिज पदार्थों की खान है, लोहा, सोना, प्लाटीनम, अबरख, ताँबा, शोरा, गन्धक, चाँदी और तरह-तरह की दूसरी कीमती चीजों से भारत की धरती भरी हुई है। इन वस्तुओं के निकाले जाने का भी प्रयत्न नहीं किया गया।

जवाहरात की खानों का भी अभाव नहीं है। पन्ना (मध्य-भारत) में हीरे की खानें हैं और हैदरावाद का गोलकुंडा की खान तो इसलिए विश्वविख्यात है कि वहीं "कोहेनूर" पाया गया था जो एक इतिहास-प्रसिद्ध हीरा है।

अवरख की खान तो विहार में ही है। यह गुलामी का ही चमत्कार है कि इतनी साधन-सम्पन्नता के रहते हुए भी संसार के सभी देशों से भारत दरिद्र है। जहाँ की आवादी का तीन चौथाई भाग केवल एक शाम भोजन करता है और वह भी रूखा-सूखा। वदन ढकने भर को कपड़े नहीं हैं और न ऐसे घर जिनमें आराम से रहा जा सके। सैकड़ों साल की गुलामी और अँगरेजों के वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक शोषणों ने देश का कंकाल ही रहने दिया—खून, मांस, चर्बी सब कुछ चूसकर अँगरेज चलते वने। भारत भयंकर रूप से लूटा गया है। केवल महमूद ने तीस वर्षों के अर्से में सत्रह वार भारत को लूटा। नगरकोट का मन्दिर लूटकर महमूद ७०० मन सोने के सिक्के, ७०० मन सोने के वर्तन, ४० मन विशुद्ध सोना और २० मन के लगभग रत्न ले गया। अकेले महमूद ने इतना लूटा, किन्तु जो भारत को गुलाम वनाकर आराम से शासन करते रहे वे कितना वटोरकर ले गये, यह वतलाना असंभव है। भारतीय उद्योगधन्धों का विनाश,

योजना वनाकर, अँगरेजों ने किया। १९२२ में सर वैलेंटाइन शिरोल ने कहा था कि—"सरकार हिन्दुस्तानी धंधे को डाह की नजरों से देखती थी।"

१९१२, २२ एप्रल के "आवजर्वर" पत्र में शिरोलने लिखा था कि—"हिन्दुस्तान के औद्योगिक विकास के वारे हमने जो कुछ किया वह गौरवपूर्ण नहीं है।"

अव हम सरकारी रिपोर्ट को ही सरकार की वद-नीयती के रूप में उपस्थित करते हैं—

१९२१ की सरकारी रिपोर्ट में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"लड़ाई के कुछ समय पहले सरकारी सहायता से और नये कारखाने खोलकर उद्योगधन्धों को वढ़ाने की चेष्टा भी की गई; किन्तु विलायत की तरफ से रोका गया।" सोने-चाँदी को उतना महत्त्व नहीं देना चाहिए—यदि देश की उन्नति के या उत्पादन के साधन मुक्त रहें तो ७०० क्या, सात सौ करोड़ मन सोना और रत्नों की वर्षा होती रहेगी। किन्तु अँगरेजी शासन ने हमारे विकास और उत्पादन के साधनों को ही विकसित होने से रोका। भारत का शासन दुश्मन की तरह किया गया जो केवल वदला लेना चाहता हो—यदि हमें पूर्णरूप से विकसित किया जाता तो अँगरेजों को और भी लाभ होता। किन्तु

उनके दुर्भाग्य ने उन्हें ऐसा करने से रोका और वे फल खाते-खाते डाल-पत्ते भी चबाने लगे—इस तरह फलों की पैदावार को भी समाप्त किया गया ! मुसलमानी शासन की निर्बलता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, विदेशियों का प्रभाव बढ़ता गया। इस्ट इंडिया कम्पनी के काले कारनामों का वर्णन हम नहीं करेंगे, फिर भी दो-चार शब्द कह देना अनुचित न होगा। हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मि० स्टूअर्ट नामक एक अँगरेज इतिहासलेखक की ही कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर देना काफी होगा। अपनी "हिस्ट्री ऑफ बंगाल" में इस सत्यभाषी अँगरेज ने लिखा है कि—

> "इस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरों का अत्याचार बढ़ रहा है। उन्होंने देश (भारत) के आन्तरिक व्यापार को मुट्ठी में कर लिया है। वे यहाँ के निवासियों को महँगे भाव में खरीदने और सस्ते भाव में बेचने को लाचार करते हैं। ये अदालत, पुलिस और अर्थविभाग के अधिकारियों की एक नहीं सुनते। इनका अपमान स्वच्छन्द भाव से करते रहते हैं। ब्रिटिश फैक्टरी का प्रत्येक कर्मचारी कम्पनी के सब अधिकारों से सज्जित है। इस प्रकार कलकत्ते में इन्होंने अपार सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है और करोड़ों मानव दरिद्रता की अन्तिम सीमा पर पहुँचा दिये गये हैं।

इन अभागों के पुराने स्वामियों के राजत्व-काल में जब शासन असहनीय हो जाता था तब वे उसे सहज ही बदल डालते थे; किन्तु अँगरेजों का शासन डँवाडोल नहीं किया जा सकता। अँगरेजी शासन जंगली अत्याचारी शासन की तरह है।"

* * * * *

इतना उदाहरण ही काफी होगा। इस तरह हमें तबाह किया गया। ईस्वी सन् १६०० में विलायत का व्यापारीदल यहाँ व्यापार करने आया था। केवल ७७ हजार पौंड की पूँजी से अँगरेजों ने यहाँ व्यापार करना आरंभ किया जो केवल ७ लाख रुपये के बराबर था। इस तुच्छ पूँजी को बढ़ाते-बढ़ाते अँगरेजों ने सारे देश को हजम कर लिया। ३१२० करोड़ रुपये की पूँजी तक इन्होंने पहुँचाई और पौने तीन अरब प्रतिवर्ष सूद, मुनाफा आदि हमसे वसूल करने लगे। केवल २५० वर्षों में ही अँगरेज कहाँ से कहाँ पहुँचे, यह आश्चर्य की बात है—१६०० से १८५०—बस, इतना ही समय लगा। इतने थोड़े से वर्षों में भारत-जैसा सम्पन्न देश न केवल लूटकर बर्बाद ही किया गया; बल्कि इसका मानसिक और सांस्कृतिक विनाश भी किया, गया। यहाँ गद्दारों की उत्पत्ति की गई, देश-द्रोहियों को राज्य की ओर से सब कुछ दिया गया। आजादी की भावना का दलन किया गया और छोटे-छोटे

फिर्कों को वढ़ावा देकर झगड़े वढ़ाये गये—आपसी वैर वढ़ाकर एकता नष्ट की गई। मुकदमेवाजी और वेईमानी का खूब प्रचार किया गया और भारत को निर्बल वनाकर सदा के लिए वर्वाद कर दिया गया।

इस तरह भारत को न केवल लूटा गया; वल्कि उसे दरिद्रता और मौत की ओर धकेला गया। भारत-वासियों का औसत जीवन २६ साल से अधिक नहीं है याने भरी जवानी में मौत! जवकि इंग्लैंड या अमेरिका के भाग्यवानों की आयु इससे दुगुनी है। कोढ़ी, अन्धे, अपाहिज संसार से अधिक हमारे यहाँ हैं। क्षय-रोग से मरनेवाले लाखों हैं। अच्छा भोजन, साफ घर और विश्राम भारत के भाग्य में नहीं है। अकाल का यह हाल है कि पिछले महायुद्ध के समय केवल वंगाल में अकाल से ४५ लाख व्यक्ति मर गये भूख से तड़प तड़पकर।

भारत के किसी-न-किसी भाग में प्रत्येक वर्ष अकाल पड़ता है और महामारी का तो वर्णन ही व्यर्थ है। प्लेग, चेचक, कॉलरा, टायफाइड हर घड़ी भारत में रहते हैं। हमारी जीवनीशक्ति इतनी घट गई है कि रोग का आघात सह नहीं सकते और साधारण रोग भी संहारक वन जाता है और महामारी का रूप धारण कर लेता है। मलेरिया से भारत में ४०-४५ लाख व्यक्ति हर साल मरते हैं। १८६० से लेकर १६०० तक हमारे यहाँ दस

अकाल पड़े और डेढ़ करोड़ भारतीय मरे। १९०० से लेकर अवतक याने १९५० तक, शायद ५० वार अकाल पड़ा। १६०१ के अकाल में १९०००००० व्यक्ति तड़प-तड़पकर मर गये। १) में यहाँ औरत वेची गई है। दीर्घजीवन भारत का विशेष गुण था। महाभारत के सभी महारथी १०० वर्ष से कुछ अधिक ही के थे; किन्तु अव तो वचपन के वाद से ही वुढ़ापा शुरू हो जाता है। जवानी—उमंगों और खूवसूरती से भरी जवानी—तो आती ही नहीं। गुलामी ने हमें कहाँ पहुँचा दिया था यह समझने की वात है। विना इन वातों पर ध्यान दिये हम समझ नहीं सकेंगे कि स्वतन्त्रता कैसे आई और इसका क्या महत्त्व है। आज हम पूर्णतन्त्र स्वतन्त्र हैं और हमें यह समझ लेना चाहिए कि हम क्या थे, कैसे वना दिये गये और तव हम यह सोच सकेंगे कि हमें अव क्या वनना है।

भारत का समुद्रतट अत्यन्त विशाल है और वह प्रायः चार हजार मील तक फैला हुआ है, किन्तु उत्तम वन्दरगाह की कमी है। करीव १५ वन्दरगाह हैं जिनमें तीन-चार ऐसे हैं जो वड़े कहे जा सकते हैं। ओखा [ काठियावाड ], वेरावल, भावनगर, गोवा, मंगलोर, कालीकट, त्रिवेन्द्रम, एलिपी आदि छोटे-छोटे वन्दरगाह हैं जिनपर वड़े जहाज नहीं लग सकते। वम्वई, कल-

कत्ता और मद्रास के ही वन्दरगाह सुविधाजनक हैं, फिर भी इनका विकास आवश्यक है। पूर्वी तट के वन्दरगाह महत्त्वपूर्ण हैं।

इन वन्दरगाहों का महत्त्व शान्तिकाल में व्यापार के लिए और युद्धकाल में रक्षाकार्य के लिए है। अँगरेज केवल कराची, वम्बई, मद्रास और कलकत्ते के वन्दरगाहों से ही देश के साधनों को ढोते रहे। अतः उन्होंने उन्हीं वन्दरगाहों का थोड़ा वहुत विकास किया।

पाकिस्तान के पहले हमारा देश २० लाख वर्गमील था और हमारे एक मामूली जिले की लम्वाई चौड़ाई ४ हजार वर्गमील से कम नहीं है फिर भी हम इतनी हीन अवस्था में पहुँचा दिये गये हैं। कृषिप्रधान भारत में सवसे भयंकर वात है खेतिहर-मजदूरों की संख्या का लगातार वढ़ते जाना। १९२१ की गणना के अनुसार प्रत्येक १००० काश्तकारों के पीछे २९१ खेतिहर-मजदूर होते थे। यह संख्या केवल १० वर्षों में, १९३१ में, वढ़कर ४०७ तक पहुँची। इस तरह तीन में से एक से कुछ अधिक वेजमीन मजदूर हैं जो पहले काश्तकार थे। किसान भयंकर रूपसे कर्जदार हैं और कुसंस्कारों तथा अशिक्षा के चलते अत्यन्त हीनावस्था में हैं। किसानों की अवस्था इतनी गिर गई है कि वे अपने गाँव, खेत, वकील का दफ्तर, अदालत और श्मशान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं

जानते। भारत में बहुत से किसान ऐसे मिलेंगे जिन्होंने कलकत्ता, काशी, प्रयाग तक की झाँकी नहीं की! यदि दूर-दूर पर हमारे तीर्थधाम नहीं होते तो भारत के करोड़ों व्यक्ति अपने गाँव में ही जन्म लेकर और ५०।६० साल जीवित रह कर भी गाँव में ही आराम से मर जाते। हमारे देश में यातायात के लिये सड़कें या रेलें सैनिक उद्देश्य के लिए हैं और हैं कच्चा माल ढोने के लिए—जनता के आने जाने की सुविधा को कभी महत्व नहीं दिया गया। अतः दूर-दूर पर बसे हुए गाँवों और उनके अभागे रहनेवालों की दशा अवर्णनीय है।

पशु-धन के नाश का इतिहास और भी भयङ्कर है। गवर्नमेंट आफ इन्डिया के अन्डर सेक्रेटरी मि० ह्यूम की एक रिपोर्ट से पता चलता है कि १८६५ में ४ लाख गाय आदि वड़े पशु की खालें भारत से वाहर भेजी गईं और १९१४ में यह संख्या ४ करोड़ तक पहुँच गई। कहना न होगा कि पशु शहरों के धन नहीं हैं, ग्रामीणों के प्राण हैं। गाँवों की कमर किस तरह तोड़ी गई यह साफ जाहिर होता है। भारत में गोरे सिपाहियों के लिए कम से कम डेढ़ लाख पशु प्रति वर्ष काटे जाते थे क्योंकि ९४६ मन मांस की नित्य आवश्यकता पड़ती थी। यह अनुमान हमारा नहीं, मि० जस्सावाला का है जिन्होंने भारत के पशुधन का लेखा-जोखा तैयार किया था।

अब खेती पर ध्यान दीजिये—

अमेरिका के प्रतिशत २५ व्यक्ति खेती करते हैं और इङ्गलैंड में तो आबादी के प्रतिशत १० किसान हैं जब कि भारत की आबादी का तीन-चौथाई किसान हैं। यहाँ उद्योगों का सदा अभाव रहा और आबादी के तीन-चौथाई को छोटे-छोटे खेतों में अपने पुराने हल बैल और भद्दे औजारों के साथ चिपके रहना पड़ा। जब कि इङ्गलैंड प्रति एकड़ सालाना २००० पाउंड अन्न पैदा करता है, भारत केवल ६९० पाउंड का उत्पादन करता है; यद्यपि हमारी जमीन इङ्गलैंड की जमीन से अच्छी है तथा ऋतु हमारे अनुकूल हैं। जावा में प्रति एकड़ ४० टन ईख पैदा होती है और भारत में १० टन। रूई हमारे यहाँ की रोजगारी फसल है, यानी ऐसी फसल जिसे हम खाते नहीं। हम एक एकड़ में ६८ पांउड रूई पैदा करते हैं और अमेरिका २०० और मिश्र ४५० पांउड फी एकड़। इसका कारण है गुलामी जिसने हमारे साधनों को विकसित होने नहीं दिया। यदि साधनों का विकास किया जाय तो भारत संसार को अपने सस्ते मालों से भर दे। किन्तु अभी यह कार्य तुरन्त साकार कैसे हो सकता है—हमारी आजादी तो अभी कल-परसों की है। पशु-धन की दशा और भी गई-बीती है। पिछले युद्ध के दिनों में अमेरिकन और अंग्रेज सिपाहियों के लिए सारा देश कसाईखाना बना

डाला गया था। अच्छी और जवान गायें, भैंसें सब समाप्त कर दी गईं तथा बैलों को भी खा डाला गया। पंजाब में—जहाँ घी-दूध की सचमुच नदियाँ बहती थीं—आज खोजने से शायद ही घी मिले; तमाम "घासलेटी" की भरमार है। पशु-धन और वन-सम्पत्ति भारत के पास इतनी थी कि संसार के दूसरे देश इसकी तुलना में ठहर नहीं सकते थे।

रेलों और सड़कों का भी अपने यहाँ अभाव है। अकाल या बाढ़ की स्थिति में हम वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकते, जहाँ हमें तुरन्त पहुँच जाना चाहिये। युद्ध के दिनों में सड़कों और रेल की लाइनों का महत्व अत्यन्त बढ़ जाता है; किन्तु इन दिनों महत्वपूर्ण साधनों का विकास नहीं किया गया जिसका अभाव हम आज स्वतन्त्र होकर महसूस कर रहे हैं। इतने विशाल देश के प्रत्येक गाँव को एक दूसरे से अलग नहीं रहना चाहिए। सड़क, रेलवे लाइन, तार या रेडियो की व्यापकता वांछनीय है। हमें अलग-अलग रखकर लूटने में विदेशी सरकार को सुविधा होती थी और उसने यही किया भी।

भारत के उत्तर पर्वतराज हिमालय है जिसे महाकवि कालिदास ने "देवतात्मा" कहा है। हिमालय भारत को सम्पन्न बनाने का एक प्राकृतिक खजाना है तथा सागर की लहरें हमारे पूरब तथा दक्षिण भाग को चूमती हैं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भारतमाता की वन्दना इन शब्दों में की है—

नील-सिन्धु-जल-धौत-चरण-तल,
अनिल-विकम्पित श्यामल-अंचल
अम्बर चुम्बित भाल हिमांचल
शुभ्र-तुषार-किरीटिनि !

यह "शुभ्र-तुषार-किरीटिनि" हमारी भारतमाता अपनी विपुल शक्ति और करोड़ों पुत्रों के रहते भी वन्दिनी रही और इसके बन्धन कटे इसी २६ जनवरी १६५० को। सैकड़ों साल की गुलामी के बाद महान् सम्राट् अशोक का "सिंहस्तम्भ" फिर हिमालय की पौने तीस हजार फीट ऊँची चोटी पर चमक उठा—जिसकी रक्षा हम ३२ करोड़ भारतीय चौंसठ करोड़ हाथों से करेंगे—कर रहे हैं—उन हाथों से जिनमें नंगी तरवारें चमक रही हैं और हमारे दिलों में जोश हिलोरें मार रहा है। हम आजादी की लड़ाई लड़ कर विजयी हुए किन्तु अभी तो इससे भी बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी हैं। बड़ी-बड़ी कुर्बानियों की आवश्यकता है। अशिक्षा, रोग, दरिद्रता आदि से लड़कर तब हम स्वतंत्रता के प्रकाशमान् रूप की झलक पा सकेंगे। हम सरकार का मुँह नहीं जोहेंगे। राष्ट्रपति के शब्दों में—"न तो यहाँ कोई राजा रहा और न प्रजा ; या तो हम सभी राजा हैं या प्रजा।" हम, प्रत्येक भारतीय, पूर्ण शक्ति-

सम्पन्न हैं—सरकार हमारी है या दूसरे शब्दों में हम सरकार हैं। हम अपनी उन्नति और अपना सर्वांगीण विकास स्वयम् करेंगे। देश के समस्त साधनों का विकास हम करेंगे और गुलामी-काल के सभी दोषों को रौंद डालेंगे। अतीत की बुराइयों का अन्त करना है। अब हम आपके सामने यह उपस्थित करना चाहते हैं कि आजादी कैसे आई और आजाद होने के लिए भारत को क्या-क्या करना और सहना पड़ा।

---

# कांग्रेस और असंतोष

कांग्रेस १८८५ ई० से आरंभ हुई। इन कुछ वर्षों में ही इसने देश को स्वतन्त्रता के लिये तैयार किया तथा एक दिन ऐसा आया जब अंग्रेजों ने कांग्रेस के सामने बिना-शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। गुलामी के विरोध में देश तब से अपना विरोध-प्रदर्शन कर रहा है जब से यह गुलाम हुआ, किन्तु सब से बड़ी सुसंगठित और वैधानिक लड़ाई कांग्रेस ने लड़ी जिसके रक्षक और संचालक थे महात्मा जी। बहुत से विप्लवों और क्रांतियों के पथ से होकर देश को गुजरना पड़ा। संन्यासी विद्रोह, सिपाही विद्रोह तथा आतंकवादी कार्रवाइयाँ भी होती रहीं। इसमें संदेह नहीं, तरीके में, विधि में, चाहे जितना भी अन्तर रहे प्रत्येक आन्दोलन का उद्देश्य एक ही था—गुलामी से छुटकारा! विदेशी सरकार के असहनीय भार को स्वीकार करना देश के लिए जब कठिन हो गया तो उसने धक्के मारना और जोर लगाना आरंभ कर दिया। प्रयत्न चाहे उतने कारगर या सफल न भी हों, किन्तु प्रत्येक ऐसा आघात जो भारत ने अपनी गुलामी पर किया वह ठीक जगह पर लगा और उसने अपना असर भी छोड़ा। संन्यासी-विद्रोह या सिपाही-विद्रोह

या क्रान्तिकारी कार्य सभी अंग्रेजी शासन की जड़ पर ही कुठाराघात करते रहे और इन आघातों के फलस्वरूप हमारे बन्धन की कड़ियाँ कमजोर होती गईं। हम तो, मुसलमानी सल्तनत को धाराशायी करने के लिए जितनी लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें भी "भारत की आजादी के लिए ही" मानते हैं। महाराणा प्रताप या महाराजा शिवाजी हमारे उन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों में हैं जिन्होंने देश की आजादी के लिये ही तलवार उठाई। यह बात दूसरी है कि आजवाली राष्ट्रीयता की भावना उनके दिलों में न हो, क्योंकि इस तरह सोचने की प्रकृति का विकास उन दिनों भारत में नहीं हुआ था। प्रताप और शिवाजी अपने राज्यविस्तार के लिए ही लड़े हों या "मूँछ" की लड़ाई हो, किन्तु वे मुसलमानी सल्तनत के समर्थक और दास नहीं थे। दिल्ली के ताज और तख्त की सत्ता मानने से इन्कार कर देना ही राजद्रोह माना जाता है और यह सत्य इतिहाससिद्ध है कि भारत ने कभी भी हृदय से दिल्ली पर विदेशियों के प्रभुत्व का समर्थन नहीं किया। भारत के रक्त में और स्वभाव में ही ऐसे तत्व हैं जो गुलामी का समर्थन नहीं करते। भारत सदा विद्रोही रहा और जितने विदेशी यहाँ शासन करने आये वे सुख से तख्त पर नहीं बैठ सके। औरंगजेब, अकबर आदि प्रसिद्ध मुसलमान बादशाह जब तक जीवित रहे

विद्रोह का सामना करते रहे, लड़ते रहे और सदा व्यग्र रहे। भारत आदतन गुलाम नहीं है। इस तेजस्वी देश की रग-रग में स्वतन्त्रता की विजली कौंधती रहती है। १८५७ के विख्यात विद्रोह में भी भारत के राजाओं ने भाग लिया। पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह तथा विहार के कुँअर सिंह आदि के नाम प्रातःस्मरणीय हैं।

मुसलमानों के शासन की नींव को मरहठों ने हिला कर कमजोर कर दिया था—छापे मार युद्ध, लूट और विद्रोह के एक सिलसिले ने मुसलमानी-शासन-यंत्र को झकझोर कर नष्ट कर दिया था। अंग्रेजों ने दिल्ली के शासन की कमजोरी से लाभ उठाया। वे रोग के कीटाणुओं की तरह चुपचाप भीतर-भीतर फैल गये जब कि मरहठे वहादुरी के ही रास्ते चल रहे थे। वहादुरी और गंदी कूटनीति में कितना अन्तर है यह इस इतिहास से स्पष्ट हो जाता है।

जनता दो अवस्थाओं में उभरती है—पहला, शासन के प्रति निराशा के भाव आ जाने पर; दूसरा, विना किसी दलील के शासन को उलट देने के लिये। हम गुलामी की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं। पहली दलील में एक कमजोरी है। गुलाम रहते हुए जब हम सुखी होना चाहेंगे तो इसके मानी यह हैं कि हमने गुलामी को स्वीकार कर लिया किन्तु असंतोष है कुछ अधिक सुख-

सुविधाओं के लिए। अंग्रेजों ने भारत के असंतोष को इसी रूप में समझा। वे तरह-तरह के चमकदार खिलौने हमारे सामने रखते गये। अंग्रेजों ने समझ रक्खा था कि भारतीय आदतन गुलाम हैं किन्तु इन्हें कुछ सस्ता और अप्रतिशीलता की ओर ले जानेवाला आराम भी मिलना चाहिये—आराम भी कैसे, सिनेमा, शराब, नौकरियाँ आदि आदि। किन्तु अंग्रेजों का ऐसा अनुमान गलत था—भारत किसी भी अवस्था में गुलामी को स्वीकार करना नहीं चाहता था और उसकी इस प्रबल इच्छा का नेतृत्व और विकास कांग्रेस ने किया जिसकी स्थापना १८८५ में हुई।

कांग्रेस के बासठ साल के लम्बे इतिहास को हम कुछ विभागों में बाँट देना चाहते हैं, जैसे—

आवेदन-निवेदन युग
असंतोष युग
वंग-भंग युग
असहयोग युग
सविनय अवज्ञा युग और
"भारत छोड़ो"—युग।

एक एक युग की संक्षिप्त विवेचना करना हमारा उद्देश्य है, क्योंकि कांग्रेस का इतिहास ही भारत का शानदार इतिहास बन गया है। कांग्रेस का जीवन एक

से बढ़कर एक शानदार और गौरवपूर्ण घटनाओं का समूह है। कांग्रेस के भीतर ही जनजीवन का प्रवाह प्रवाहित रहा है—भारत ही कांग्रेस के रूप में बदल गया था। कांग्रेस ही भारत बन गई। कांग्रेस के नेतृत्व में ही भारत अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ता रहा, अपना संगठन, विकास और बल का समुचित उपयोग करता रहा। कांग्रेस आकाश की तरह भारतीय जीवन पर छा गई थी और कांग्रेस की ही छाया में बैठ कर देश ने अपने भविष्य के निर्माण का कठिन कार्य आरंभ किया।

प्रथम युग में कांग्रेस कुछ ऐसे लोगों की एक परिषद्-मात्र थी जो भारतीय-साहब थे और राजनीति की भाषा बोलने के शौकीन थे। ये मनचले मिस्टर भारतीय-साहब बड़े दिन की छुट्टियों में एकत्र होकर यत्न से तैयार किये गये भाषण पढ़ते थे और कुछ प्रस्ताव भी पास कर डालते थे। इसके बाद ये महानुभाव अपने-अपने घर की राह लेते थे। अखबारों में इनके नामों का छप जाना ही सब कुछ था। एक वर्ष समाप्त हो जाने के बाद फिर साहब बहादुरों का दल बड़ी शान से कहीं जुटता था और ऐसी भाषा में बोलना आरम्भ कर देता था जिससे अंग्रेज़ी सरकार की भौंहों पर बल न पड़ जाय। एक अवसरप्राप्त आई० सी० एस० ने कांग्रेस की नींव डाली थी। वह आई० सी० एस० एक अंग्रेज़ था और अंग्रेजी

सरकार की प्रेरणा से उसने कांग्रेस की स्थापना की थी। अंग्रेजी सरकार भारत के पढ़े-लिखे साहब-बहादुरों के विचार जानना चाहती थी और कांग्रेस का निर्माण इसीलिए किया गया था कि देशी साहब एक जगह इकट्ठे होकर राजनीति की भाषा में बोलें और अपने विचार व्यक्त करें जिससे हुकूमत को देश के राजनैतिक-विचारों से मापते और तौलते रहने का अवसर मिलता रहे तथा उन विचारों पर अपना असर डालते रहने की सुविधा भी मिलती रहे। अंग्रेज जानते थे कि भारत जन्मजात स्वतन्त्रता का प्रेमी और किसी तरह की भी विदेशी सरकार का विरोधी है, विरोधी ही नहीं—पक्का विद्रोही है।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण देते हुए श्री उमेशचन्द्र वन्दोपाध्याय ने कहा था कि—"हमारा उद्देश्य है हमारे समाज में जिन बुराइयों ने विकास का पथ रोक रक्खा है उनसे छुटकारा पाना।"

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन इसी उद्देश्य को लेकर हुआ जिसकी घोषणा सभापति ने की थी—"समाज में फैली हुई बुराइयाँ"—इन बुराइयों के सम्बन्ध में निश्चित रूप-रेखा नहीं रक्खी जा सकती है। कट्टर भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार को बुराई समझते थे जिसका प्रतिनिधित्व उमेश बाबू कर रहे थे और जिस

संस्कृति के प्रतिनिधि उमेशबाबू थे उस संस्कृति के समर्थक भारत की प्राचीन परम्परागत संस्कृति को "समाज में फैली हुई बुराई" कह सकते थे। इस तरह एक बेबूझ पहेली के रूप में कांग्रेस का श्रीगणेश हुआ; किन्तु यह बात तो साफ हो गई कि "देश को कुछ चाहिए" और इसके लिए देश के विचारकों को मिलजुल कर सोचना-विचारना है। देश की दबी हुई आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कांग्रेस अपने प्रथम युग में नहीं करती थी— हाँ, वह अन्धकार में कुछ टटोल जरूर रही थी। इसमें संदेह नहीं कि उस समय के नेताओं के हृदय में यह विश्वास सजीव था कि अनुनय विनय करके अंग्रेजों के हृदय को वे पिघला सकेंगे तथा देश के शासन में महत्वपूर्ण भाग लेने का अवसर उन्हें भी दिया जायगा। कांग्रेस के प्रथम युग का यही संक्षिप्त इतिहास है। अंग्रेजों या यूरोपियनों की श्रेष्ठता की धाक हमारे देश के श्रेष्ठपुरुषों के दिलों में भी जमी हुई थी। भारत और भारत की प्रत्येक वस्तु के प्रति घृणाभाव भरतवासियों के मन में पैदा कराने में अंग्रेजों ने सफलता पाई थी। भारतीय यूरोप की प्रत्येक वस्तु को ललचाई हुई दृष्टि से देखते थे—यूरोप का कूड़ाकरकट भी हमारे लिए रत्नों का समूह था। यह हीन भावना इतनी बढ़ चुकी थी कि हम भारतीय एक दूसरे से भी घृणा करने लग गये

थे। एक अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति उस व्यक्ति को हीन, अज्ञानी और जंगली समझने लग गया था जो प्रत्येक दृष्टि से उस अंग्रेजी-शिक्षित से श्रेष्ठ रहने पर भी अंग्रेजी नहीं जानता था। यह स्थिति, यह युग, देश के पतन की चरम सीमा थी। अंग्रेजों का भूत सर पर चढ़ कर बोल रहा था और १८९७ में स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की यात्रा की। यह पहला अवसर था जब भारत के एक महान् सांस्कृतिक नेता ने यूरोप और अमेरिका के सामने भारत की महानता का प्रकाश फैलाया हो। स्वामी विवेकानन्द ने अपने महान् पांडित्य और ज्ञान के प्रभाव से अमेरिका को मुग्ध कर लिया और भारत की श्रेष्ठता का लोहा अमेरिकनों ने माना। इसका एक फल यह भी हुआ कि भारतवासियों के भीतर जो हीन भावना भरी हुई थी और जो उन्हें उभरने से रोकती रहती थी बहुत कुछ मिट गई। इसके बाद ही लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रभृति एकाएक प्रकाश में आये। यह दल अपने युग का-निर्माता था। पांडित्य और आत्मगौरव, देश-भक्ति और उच्च कोटि की भारतीयता का यह दल प्रतिनिधित्व करता था। लोकमान्य की तेजस्विता और अजेय विद्वत्ता का लोहा संसार ने माना तथा विपिचन्द्र-पाल की वक्तृत्व शक्ति यूरोप को चकित कर देनेवाली थी।

इन नेताओं के आते ही कांग्रेस का दूसरा युग [असंतोष-युग] आरंभ हो गया। इन महान् पुरुषों ने देश में असंतोष का तूफान पैदा कर दिया और जनता को यह बतला दिया कि—"स्वराज्य उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।"

इसी समय सहायक रूप में कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुईं जिनके चलते देश में चेतना की बिजली कौंध गई। बम्बई में कुख्यात प्लेग का आरम्भ भयंकर रूप में हुआ और उसकी भयंकरता ऐसी थी कि दूर-दूर के रहने वालों को विश्वास हो गया था कि कुछ ही सप्ताहों में बम्बई एक विशाल मरघट बन जायगा और सारा शहर समाप्त हो जायगा। इस महामारी में जनता की रक्षा करने के लिए सरकार ने एक कमेटी का संगठन किया था किन्तु कमेटी के अङ्गरेज कर्मचारी इतने नीच थे कि वे जनता की सेवा क्या करते, उलटे उसे नाना प्रकार से अपमानित करने लगे। सेवा के नाम पर तरह-तरह के अत्याचारों और जुल्मों की बाढ़-सी आ गई। जब जनता का धीरज छुट गया तो उसने जान पर खेल कर कमेटी के प्रेसिडेंट मि० रांड और उनके सहकारी लेफ्टनेंट एरेस्ट का खून कर दिया। यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि आज से ५०-५५ साल पहिले जनता में वैसी गरम भावना नहीं थी और अङ्गरेजी हुकूमत भी तलवार की धार की तरह तीखी थी। फिर भी जनता ने अत्याचारियों से बदला

लिया। उन अभागे अङ्गरेजों के अत्याचार निश्चय ही ऐसी भयङ्कर थे कि चन्दन में से भी चिनगारियाँ फूट पड़ीं। खूनी पकड़े गये, उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया, किन्तु प्रोत्साहन देने के अपराध में लोकमान्य तिलक को भी जेल में बन्द कर दिया गया—लम्बी सजा दे दी गई। महामति गोपाल कृष्ण गोखले और पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय विलायत गये और इस सुनहली आशा के साथ कि वे लन्दनवालों के सामने भारत के क्षुब्ध लोकमत को रक्खेंगे और उनकी सहानुभूति प्राप्त करेंगे; किन्तु इन दोनों महानुभावों को गहरी वेदना और निराशा के साथ लौटना पड़ा। गोखले ने कहा कि—"हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। देश में रहकर ही देश को संघबद्ध करना उचित है।"

पहली बार गोखले ने अङ्गरेजों से निराश होकर देश के संगठन की ओर ध्यान दिया और इस तरह कांग्रेस का अनुनय-विनय-युग समाप्त हो गया और जनचेतना को दीप्त करने का कार्यक्रम कांग्रेस ने अपनाया। कांग्रेस में यद्यपि जीवन का संचार हो गया था किन्तु अभी तक उसमें ऐसे व्यक्तियों का अभाव न था जो अङ्गरेजों की दया-ममता पर निसार थे। ऐसे विचारवाले कुछ वकील-पेशा लोग और कुछ टाइटिलधारी थे। ये अङ्गरेजों को नाराज करके अपना अहित कराने को तैयार न थे। "देशप्रेम" और

'पद-प्रम', इन दो परस्पर विरोधी प्रेमों के बीच में उन लोगों का बुरा हाल था, जो कभी कांग्रेस की ओर झाँकते थे तो कभी बड़े लाट के फाटक की ओर।

कांग्रेस के भीतर तत्काल दो दलों का प्रादुर्भाव हुआ। गरम-दल और नरम-दल के नाम से कांग्रेस के भीतर जिन दो दलों का जन्म हुआ उन दलों ने १९०७ की सूरत-कांग्रेस में अपने अपने भाग्य की परीक्षा की। विधिवत् खंडयुद्ध का सूत्रपात हुआ। इस मारपीट में गरमदल की हार हुई और नरमदल ने कांग्रस पर अपना अधिकार जमा लिया। नरमदल के सर रासबिहारी बोस सभापति बनाये गये—नरमदलवालों के ये नेता थे।

यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि लोकमान्य का दल गरम था जो अंग्रेजों की हठधर्मी से उकता चुका था और जिसका एकमात्र सिद्धान्त था देश में चेतना फैलाना तथा सर रासबिहारी और सर तेजबहादुर जैसे कीर्तिमान् वकील बैरिस्टर नरमदली थे जो अंग्रेजी सरकार से झगड़ा मोल लेकर अपनी भावी उन्नति की जड़ काटना नहीं चाहते थे।

अंग्रेज सरकार ने १९०९ में "मार्लो-मिंटो-सुधार" नाम से भारतीयों को नाममात्र के थोड़े से अधिकार भी दिए। यह डूबते हुए को तिनके का सहारा जैसा ही नगण्य प्रयत्न था। लोकमान्य के प्रयत्नों ने अपना रंग दिखलाना

आरंभ कर दिया था और देश में नौकरशाही के खिलाफ घृणा और रोष फैलता जा रहा था। इसी समय बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट कर उसे बर्बाद करने की चाल अंग्रेजों ने चली। बंगाल धीरे धीरे गरम हो रहा था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विपिनचन्द्र पाल, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अरविन्द घोष आदि लोहे के पुतले बंगाल में आ चुके थे और उन्होंने अपने प्रान्त को त्याग और बलिदान के लिए तैयार करना आरंभ कर दिया था। लाचार अंग्रेजों ने ( १९११ ) बंगभंग की योजना को रद्द कर दिया क्योंकि पूरा बंगाल विद्रोही हो चुका था और 'बम' के धड़ाकों से सारा देश काँप रहा था। बंगाल के प्रायः सभी प्रभावशाली व्यक्ति बमबाजों की पीठ ठोंक रहे थे। षड्यन्त्रों और रक्तपात का प्रसार हो रहा था, दूसरे प्रान्त भी इस प्रसार के दायरे में आ रहे थे। देखते-देखते आतंकवादी संगठन में सारा भारत आ गया और इसी समय दिल्ली दरबार के अवसर पर लार्ड हार्डिंग बम से आहत हुए। इस सिलसिले में व्यापक गिरफ्तारियाँ हुई और दो व्यक्ति फाँसी पर भी लटकाये गये। किन्तु प्रकृत अपराधी (?) रासविहारी बोस जापान भाग गये !!! इसी बम के धड़ाके के साथ कांग्रेस का दूसरा युग [ असंतोष युग ] समाप्त हो गया और बंगभंग युग पर भी पटाक्षेप हुआ। कांग्रेस के वे युग जो आने वाले थे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि बम के कड़वे धूएँ से

जनता की दीर्घव्यापी खुमारी मिट गई और अधिकारी भी चौंक उठे। जनता को अपनी शक्ति और क्षमता का अनुभव हुआ तथा नौकरशाही ने भी यह समझ लिया कि "इस मुँहजोर घोड़े की पीठ पर आराम से वैठना अव असंभव है।"

अंग्रेजों के जिद्दी स्वभाव ने भारत के जन-आन्दोलन को और भी उत्तेजित किया—यदि सच पूछा जाय तो अंग्रेजों ने ठोकरें मार-मार कर कभी भी देश को सोने नहीं दिया। वे नित्य नये-नये फन्दे वनाते रहे और जनता भड़कती गई। जन-चेतना को वन्दूक की गोलियों से दवाया नहीं जा सकता—दमन का प्रभाव प्रायः उलटा ही परिणाम प्रकट करता है। जव जनता प्रतीकार करने के लिए उठ खड़ी होती है तो मजवूत-से-मजवूत सरकार की धज्जियाँ उड़ जाती हैं और यही दशा अंग्रेजी सरकार की हमारे यहाँ हुई। जनता की शक्ति सदा अजेय रही है। इसके वाद कांग्रेस का चौथा गौरवमय युग आरंभ होता है, जिस युग का वर्णन भारत के इतिहास में सोने के अक्षरों में लिखा जायगा। यह युग है "असहयोगयुग"। इस युग ने भारत की कायापलट कर दी और संसार के सामने एक अत्यन्त चमत्कारपूर्ण उदाहरण उपस्थित कर दिया। क्रुद्ध भारत के मानसिक धरातल को वदलकर इस युग ने जनता को उसके असीम

बल का ज्ञान करा दिया—पशुबल के खिलाफ आत्मबल को विजयी बनानेवाला यही युग था। जिसका नेतृत्व संसार के एक सर्वश्रेष्ठ संत के हाथों में था, संत भी ऐसा जो भगवान् बुद्ध के बाद स्मरण किया जाता है। बुद्ध देव के बाद संसार को इतने बड़े देवात्मा के चरण-स्पर्श करने का गौरव कभी नहीं प्राप्त हुआ था।

१९१४ से आरंभ होकर प्रथम जर्मन-युद्ध समाप्त हुआ। यह युद्ध यद्यपि समाप्त हो गया किन्तु ऐसे राजनीतिज्ञों की कमी नहीं है जिन्होंने इस समाप्ति को 'विराम' माना है। युद्ध समाप्त हुआ किन्तु युद्ध के कारण और कीटाणु अपनी जगह पर कायम रहे। वे अपना काम करते गये और दूसरे महायुद्ध की संभावना को खींचकर निकट लाते गये। १४-१८ के महायुद्ध ने रूस की कायापलट कर दी। जारशाही का अन्त हुआ और साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। उन देशों के लिए जो गुलाम थे, रूस का यह परिवर्तन उत्साह-वर्धक सिद्ध हुआ। भारत की रगों का खून भी तेजी से दौड़ने लगा। रूस-जैसे एक बड़े साम्राज्य का चोला बदलना संसार की राजनीति में विशेष महत्त्व रखता है। जब प्रथम महायुद्ध पूरे जोश से लड़ा जा रहा था, भारत के उन विप्लववादियों ने, जिनका विश्वास था कि वे हिंसा के द्वारा अंग्रेजी हुकूमत को समाप्त कर सकेंगे, जर्मनी

से षड्यन्त्र करके अस्त्र-शस्त्र लाने की पक्की व्यवस्था कर दी। किसी भी शासन को धराशायी करने का उन दिनों संसार के सामने एक ही उपाय था और वह था विप्लव। क्रान्ति के जितने भी इतिहास थे वे सभी एक स्वर से सशस्त्र प्रतिरोध की बात ही बोलते थे। फ्रांस की क्रान्ति, आयरलैंड की क्रान्ति आदि ऐसी क्रांतियाँ विख्यात थीं। भारत ने भी कई क्रान्तियों की आँच सही थी। सिपाही-विद्रोह-जैसी क्रान्ति और सन्यासी-विद्रोह का अनुभव देश को प्राप्त था। अंग्रेजों के हठ ने और अत्याचार ने देश को अधीर कर दिया था और वह मारने-मरने को तैयार हो गया था। देश के बाहर अमेरिका में, जर्मनी और जापान में भारतीय क्रान्तिकारियों ने अपना-अपना संगठन कर रखा था। लाला हरदयाल, ओबेदुल्ला सिन्धी, डॉ० तारकनाथ दास, राजा महेन्द्रप्रताप आदि ने विदेशों में क्रान्तिकारी दलों का अखाड़ा बना रखा था। जर्मनी की मार से अंग्रेज कातर हो रहे थे और इसी समय भारत में सशस्त्र विप्लव करने की योजना बनाई गई। जर्मनी से हथियारों से भरे कुछ जहाज भी आये; किन्तु वे जहाज बीच ही में पकड़ लिये गये। भारत के विप्लववादियों के नेता यतीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय बालेश्वर (उड़ीसा) में पुलिस से लड़ते हुए मारे गये और इसके बाद सारे देश में दमन

का नग्न नृत्य आरम्भ हो गया। व्यापक गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं।

अंग्रेज भी सशंकित हुए और तत्कालीन भारतमंत्री इसी समय भारत-भ्रमण करने दिल्ली आये। ५॥ महीने तक लार्ड मांटेगू भारत का भ्रमण करते रहे और उन्होंने यह अनुभव किया कि क्रान्ति को दवाने के लिए कुछ-न-कुछ सुधार देना ही चाहिए। २३ दिसम्बर १९१९ को सुधार का एक दूसरा खिलौना भी विद्रोही भारत के आगे रख दिया गया—भूखे शेर के आगे एक भुनगा डाल दिया गया और वह इस विश्वास के साथ कि इस भुनगे को खाकर वह शान्त हो जायगा। शेर और भुनगा !!! इस सुधार ने जले पर नमक का काम किया। किन्तु नरमदली नेताओं की वन आई। वे झुण्ड-के-झुण्ड वायसराय-भवन की ओर चल पड़े। कुछ मंत्री वने, कुछ वायसराय के एक्‌जिक्यूटिव कौंसिल के माननीय सदस्य वन गये और एक-दो के भाग्य ने ऐसा कसकर जोर मारा कि वे लाटसाहवी के उच्च आसन पर भी उछलकर पहुँच गये। लार्ड सिन्हा विशेष भाग्यवान् सिद्ध हुए, क्योंकि इन्हें "लार्ड" की उपाधि भी मिली—आप प्रथम भारतीय थे जो "लार्ड" वनाये गये। ये भी कांग्रेस का सभापतित्व ( वम्वई १९१५ ) कर चुके थे। देश के सच्चे सपूत जो पूर्ण स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे, जेलों में सड़ते रहे,

पुलिस की गोलियाँ खाते रहे, फाँसी के तख्तों पर झूलते रहे और काले पानी में नरक भोगते रहे, वे अपनी आन पर अड़े रहे तथा नरमदली नेता दल बाँधकर अंग्रेजों की अधीनता में बड़ी-बड़ी नौकरियों पर गये और इस प्रकार उस अमानुपिक दमन के समर्थक बन गये जिसे अंग्रेजी हुकूमत हमारे देशभक्तों को दबाने के लिए करती रही। कांग्रेस के झंडे के नीचे खड़े होकर इन्हीं नरमदली नेताओं ने देश की भावना को भड़काया था और देश के भीतर की दबी हुई आग धधक उठी तब वे सरकार के साथ गठबन्धन करके उस भावना को दबाने का प्रयत्न करने लगे। लोकमान्य तिलक और एनीबेसेंट ने "होम रूल" का नारा बुलन्द किया और इस तरह देश के नेताओं के दो दल हो गये—एक दल जिसमें बड़े-बड़े उपाधिधारी और वकील बैरिस्टर थे, सरकारी मेशीनरी के पुर्जे बन गये और दूसरा दल जिसके भीतर देश की दुर्दशा की आग धधक रही थी, जनता के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर गोलियों की बौछारों के सामने आगे बढ़ा। अब कांग्रेस का रूप पूर्णतः 'गरम' हो गया। अंग्रेजों के फैलाये हुए गहन जाल में सभी पंछी नहीं फँस सके—जो फँस गये वे समाप्त हो गये। १९१४ से आरंभ होकर १९१८ में प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया। सरकारी आँकड़ों के अनुसार प्रायः १ लाख भारतीय जवानों ने अपने प्राण

होम कर ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की और अपनी गुलामी के बन्धनों को और दृढ़ किया। इतना ही नहीं, प्रायः एक हजार करोड़ रुपयों का भारतीय माल प्रथम महायुद्ध में झोंका गया। यदि भारत और अमेरिका अंग्रेजों को सहारा न देते तो प्रथम महायुद्ध में ही ब्रिटिश साम्राज्य की धज्जियाँ उड़ जातीं। एक लाख चुने हुए जवानों का बलिदान करवा के और एक हजार करोड़ की सम्पत्ति युद्ध में झोंककर भारत को अंग्रेजों की ओर से दो चिर-स्मरणीय उपहार मिले—पहला रौलट एक्ट और दूसरा जलियाँवाला बाग। यह था प्रथम महायुद्ध में की गई भारत की सेवाओं का पुरस्कार! ऐसी अकृतज्ञ जाति शायद ही संसार में दूसरी हो जैसी अंग्रेज है। १३ एप्रील १९१९ की स्मृति भारत के इतिहास में अमर रहेगी। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में प्रायः दस हजार स्त्री-पुरुष एकत्रित थे। वे शान्तिपूर्वक थे। बाग में एक ही ऐसा दरवाजा था जिससे होकर आसानी से भीड़ बाहर जा सकती थी। इसी दरवाजे पर जनरल डायर ने अपना मोर्चा बाँधा और मिनट-दो-मिनट की सूचना देने के बाद वह मेशीनगनों से तबतक गोलियाँ चलाता रहा जबतक सभी गोलियाँ समाप्त न हो गईं या जिन पर गोलियाँ चलाई जा रही थीं वे मर न गये। सरकारी सूचना के अनुसार दस मिनट तक १० हजार की भीड़

पर मेशीनगन से गोलियाँ चलाई गई और मरे केवल ३७९ और घायल हुए ११३७।

जिन्होंने मेशीनगन को बूँद की तरह गोलियों की वर्षा करते देखा है वे निश्चय ही इस संख्या पर लानत भेजेंगे। चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें, बीच में सिमटी हुई १० हजार भीड़ और उसपर १० मिनट तक मेशीनगन से गोलियों की बौछार, फिर भी मरे केवल ३७९ ही!!! इस "साम्राज्यवादी झूठ" की निन्दा करना अब व्यर्थ है। देश की माँग को मद्देनजर रखकर अंग्रेजी सरकार ने एक कमीशन कायम की जिसने पंजाब के इस जघन्य हत्या-कांड की जाँच की। परिणाम यह हुआ कि सभी अपराधी दूध के धोये करार दिये गये। यहाँ तक कि प्रधान हत्यारा जनरल डायर भी कमीशन के रिपोर्ट के अनुसार निरपराध घोषित किया गया। हंटर एक स्कौटिश जज था जिसने चलते-चलते झूठ बोलने का एक पाप कमाया। यही हंटर-कमीशन पंजाब-हत्याकांड की जाँच कर रही थी!

सबसे लज्जाजनक बात यह थी कि अंग्रेज औरतों ने इस राक्षसी कृत्य की बड़ी प्रशंसा की और जनरल डायर को एक थैली भी उन्होंने भेंट की—३ लाख रुपयों की। राक्षसता का ऐसा पुरस्कार अंग्रेज ही दे सकते हैं और वह भी अंग्रेज औरतें। स्त्रीजाति का, मातृजाति का

ऐसा पतन इतिहास के किसी भी युग में नहीं पाया जाता !!! यह डायर कुछ वर्ष बाद एक देशभक्त भारतीय नवजवान के हाथों से लन्दन में मार डाला गया। इस बहादुर का नाम मोहन सिंह था।

नरमदली नेता जो सरकारी पदों पर यह कहकर बैठ गये थे कि वे वहाँ से देश को स्वतन्त्र करावेंगे, अपने पदों पर इस घोर अत्याचार के बाद भी बने रहे और कांग्रेस जो गरमदल के हाथों में आ गई थी, रोप से उबल पड़ी।

हमने अबतक विश्ववन्द्य महात्माजी का कहीं भी नाम नहीं लिया; क्योंकि एक अलग अध्याय में बापू की चर्चा की जायगी।

देश में इस छोर से उस छोर तक आग भड़क उठी और जनता ने तबतक शान्ति से न बैठने की शपथ ली जबतक एक-एक अंग्रेज-बच्चे को बाहर न खदेड़ दिया जाय!

———

# विनाश की कहानी

अपनी गुलामी का अनुभव सदा भारत ने किया और
आजाद होने की लगातार चेष्टाएँ भी इसने कीं; फिर भी
सैकड़ों साल तक देश गुलाम रहा—यह एक प्रश्न रह
जाता है। इस प्रश्न पर हमें खुले दिमाग से विचार करना
है। इतिहास किसी के स्तुति-ग्रन्थ को नहीं कहा जाता।
सोचकर और विचार की गहराई में उतरने के बाद यह
स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह समय का प्रवाह बिना
यह विचार किये कि वह किसके अनुकूल या प्रतिकूल है,
प्रवाहित होता रहता है उसी तरह इतिहास का प्रवाह
भी सत्य की भूमि पर प्रवाहित होता है।

इसमें संदेह नहीं कि कभी भारत में गणतन्त्र, जनतन्त्र
आदि शासनों का अस्तित्व था। भारत के बौद्ध
युग में लिच्छवियों के गणतन्त्र शासन का पता चलता है।
वेदों और दूसरे आर्षग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है;
किन्तु समय की गति कुछ ऐसी बिगड़ी कि भारत की
सम्पूर्णता नष्ट हो गई। विभिन्न छोटे-बड़े राज्यों में भारत
ट गया और प्रत्येक टुकड़ा अपने भीतर पूर्ण था।
द्रीय शक्ति नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी।
भारत के समय में दिल्ली या हस्तिनापुरी में एक

शासन था जिसका लोहा सारा भारत मानता था और वह शासन था कौरवों का। इस शासन को वैधानिक शासन नहीं कहा जा सकता। भय के द्वारा दूसरे राजाओं को वश में रखना एक बात है और एक विधान के अन्तर्गत सारे देश को एक सूत्र में पिरो देना दूसरी बात है। कौरवों के नाश हो जाने के बाद पांडव शासनारूढ़ तो हुए; किन्तु वे काफी कमजोर भी पड़ गये थे। सभी बलवान् राजाओं का अन्त हो चुका था और इतने बड़े देश की शान्ति-व्यवस्था इन्द्रप्रस्थ में बैठकर करना जबकि देश के इस छोर से उस छोर तक पहुँचने के साधन पैदल, घोड़ा, रथ आदि ही थे; एक असंभव बात है। अराजकता की स्थिति में पांडवों ने हिमालय की राह ली।

इसके बाद बिहार के महान् सम्राट् अशोक ने भारत को एक सूत्र में बाँधा। अशोक के बाद फिर देश की एकता नष्ट हुई और इस तरह नष्ट हुई कि मुसलमान शासकों से भी सँभाले न सँभल सकी। अंग्रेजों ने अपने आतंकपूर्ण शासनकाल में भारत के सभी टुकड़ों को जोड़कर एक दूसरे से कस दिया; किन्तु उन्हें भी हैदराबाद आदि राजाओं के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ा। यदि सच पूछा जाय तो सारे भारत के मानचित्र को एक रँग में रंग देने का उनका प्रयास भी विफल ही रहा।

देश के अनेक अंशों या टुकड़ों में बँट जाने का एक बुरा परिणाम यह भी हुआ कि शिक्षा, संस्कृति और स्वास्थ्य आदि की एकता भी नष्ट हो गई तथा बहुत-सी उपजातियाँ और तरह-तरह के धर्म और विचारों का जन्म ही नहीं, विकास भी हुआ। समस्त देश को अपनी आँखों के सामने रखकर सोचनेवालों का भी नितान्त अभाव हो गया। यदि नेता भी पैदा हुए तो वे अपने वर्ग, भूभाग या स्वास्थ्य तक ही सोचते थे। यही कारण है कि कन्या-कुमारी से हिमालय और कटक से अटक तक फैले हुए देश में विचार और आचार-सम्बन्धी एकरूपता नहीं रह गई। प्रत्येक वर्ग या समुदाय अपने ही लिए जीने लगा और अपने ही लिये मरने लगा जबकि सारा देश गुलाम बन चुका था! जब इन छोटे-छोटे टुकड़ों, वर्गों या समुदायों पर विदेशी शासकों की ओर से संकट ढाया गया तो ये अलग-अलग बौखलाये और कुचल डाले गये। फिर तो राजनैतिक आकांक्षा का ही अन्त हो गया और धार्मिक स्वतन्त्रता को ही स्वतन्त्रता मानकर झगड़े और बलिदान किये गये। राजनैतिक आधार पर सोचने या कुछ करने की बात भारतीय एकदम भूल गये और साथ ही राज-नैतिक चेतना-जैसी कोई चीज ही हमारे यहाँ शेष नहीं बची। किसी भी देश के लिए इससे बढ़कर दूसरा दुर्भाग्य और कौन-सा होता है कि—

(१) वह अनेक टुकड़ों में वँट जाय

(२) प्रत्येक टुकड़े का दूसरे से कोई राजनैतिक लगाव न रह जाय

(३) अनेक धर्मों और जातियों का उदय हो और परस्पर एक दूसरे का विरोधी हो

(४) राजनैतिक आधार पर सोचने की क्षमता का अभाव हो जाय

(५) सभी टुकड़े या वर्ग या सम्प्रदाय की दृष्टि में 'देश' या 'राष्ट्र' की तस्वीर ही गायब हो जाय और

(६) राजनैतिक नेताओं का उत्पन्न होना ही वन्द हो जाय और उनकी जगह पर ऐसे लोगों का प्रभाव फैल जाय, जिनका दृष्टिकोण सीमित और जिनके विचार झगड़ालू हों और जो एक-एक टुकड़े या वर्ग का ही नेतृत्व करते हों।

इन थोड़ी-सी वातों पर विचार करने के देश के—भारत के—उस युग का चित्र स्पष्ट हो जाता है जब यह अपने-आपको गँवा चुका था और गंदी गुलामी ने इसे जकड़ रखा था। अंग्रेजों के आने के पहले और कुछ वाद तक भी भारत की यही दशा थी और इसके सभी जोड़-वन्द ढीले पड़ गये थे। इसी भारत पर मुसलमानों ने सैकड़ों वर्षों तक शासन किया फिर भी वे चैन से दिल्ली के सिंहासन पर नहीं वैठ सके। भारत के किसी-न-

किसी कोने से विद्रोह की ललकार सुन पड़ती ही रही और बादशाहों के आराम में वह ललकार विघ्न पैदा करती रही।

राष्ट्रीयता का नाश हो चुका था और देश और देशवासियों के भी अनेक टुकड़े हो चुके थे; किन्तु भारतीय संस्कृति का जो एक सूक्ष्म तथा शाश्वत लगाव था वह भीतर-ही-भीतर सारे वर्गों को एक सूत्र में बाँधकर बिखरने से बचा रहा था। मुसलमान विजातीय और अन्यधर्मी थे। अतः भारत ने उन्हें—उनके शासन को स्वीकार नहीं किया। कुछ भी हो, भारतीय यह चाहते थे कि बाहरवाले आकर हमपर—हमारे देश पर नहीं—हुकूमत न करें! मुसलमानों के शासन का विरोध भारतीय धार्मिक आधार पर ही करते थे। अंग्रेजों ने यह भाँपा कि यदि भारतीय जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता दी जाय तो विरोध की संभावना समाप्त हो जायगी जैसी स्वतन्त्रता मुसलमानों के शासनकाल में नहीं थी या कम थी।

विक्टोरिया की प्रसिद्ध घोषणा जो १८५७ के बाद की गई उसमें "धार्मिक स्वतन्त्रता" का भरोसा दिया गया। अंग्रेजों को विश्वास था कि भारतीयों में राजनैतिक आकांक्षा का अभाव है—वे अपनी रूढ़ियों और धार्मिक मत-मतान्तरों में लिपटे रहना चाहते हैं। अंग्रेजों का ऐसा सोचना उचित भी था; क्योंकि दीर्घकालव्यापी

गुलामी ने भारतवासियों में तरह-तरह की ऐसी बुराइयों को शह दिया था कि महत्त्वाकांक्षा-जैसी भावना का नाश हो गया था।

इतना ही नहीं, भारतीयों के भीतर राष्ट्रीयता का उदय न हो इस विचार से अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने भीतर की बुराइयों को सदा कायम रखने का भी प्रयत्न किया। पीछे चलकर जो सुधार भारत को दिये गये वे गला घोंटनेवाले प्रमाणित हुए। नौकरियों में, असेम्बलियों और कौंसिलों में जातीयता का ध्यान रखा गया और प्रत्येक वर्ग, जाति या फिर्के के अस्तित्व को मजबूत करने के लिए उन सबके भीतर खुदगर्जी पैदा की गई। सिक्ख, जो पहिले हिन्दू महाजाति के अन्तर्गत थे, बरगलाये गये और नौकरियों में संरक्षण मिलने का लोभ देकर तथा कौंसिलों में सुरक्षित स्थान रखने की बात कहकर अलग किये गये। वे अपने को अलग सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखकर अंग्रेजों से मिलनेवाले लाभ की ओर झुक गये। इस तरह एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया गया। अछूतों के सम्बन्ध में भी यही नीति बरती गई और उन्हें भी हिन्दुओं से अलग किया गया। राजनीति की तलवार से देश के सभी अंग काट डाले गये। 'कम्यूनल अवार्ड' के रूप में भारत की राष्ट्रीयता की हत्या की गई। यह गुलामी की भयानक देन देश को कमजोर बनाने में अंग्रेजों के

लिए उपयोगी सिद्ध हुई। देशी राजवाड़े, अनेक जातियाँ, अनेक फिर्कें और अनेक आचार-विचार के चलते भारत उठकर सीधा खड़ा होने के योग्य नहीं रह गया।

अंग्रेजी शासन ने देश में धार्मिक पालन को बढ़ावा दिया और जातीयतावाद को भी उकसाया। आज हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं, पर हमारे सामने ये सवाल उलझन पैदा कर रहे हैं जबकि पूर्ण शक्तिसम्पन्न राष्ट्रीयता ही देश को बलवान् और सम्पन्न बना सकती है। गुलामी तो मिट गई; किन्तु गुलाम रहते हुए हमने जिन कुसंस्कारों को अपने स्वभाव में स्थान दिया है उनसे छुटकारा पाना हमारा काम है। किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र का उत्थान उसके अर्थहीन रूढ़िवाद के द्वारा नहीं; बल्कि दृढ़ राष्ट्रीयता के आधार पर होता है। राष्ट्रीयता एकता को मजबूत ही नहीं करती; उसे सभी सुखों और विकास का आधार भी बना देती है। अनेक टुकड़ों में हमारी सम्पूर्णता को बाँटकर हम पर विदेशियों ने मनमाने ढंग से शासन किया और सभी टुकड़ों को एक बनाकर हमें अपनी स्वतन्त्रता को निरापद बनाना है।

इन सारे उपद्रवों के रहते हुए भी देश में स्वतन्त्रता की भावना फैलने लगी। जब कोई राष्ट्र या देश अपनी वर्तमान अवस्था से ऊब उठता है तब वह अपने को नई स्थिति में लाने के लिए जीतोड़ परिश्रम करने लगता

है—इसी प्रयत्न या परिश्रम का नाम "क्रान्ति" है।

क्रान्ति सदा विध्वंसक ही नहीं होती—यह निर्माणात्मक भी होती है और विकासात्मक भी। निर्माण और विकास का काम भी क्रान्ति के द्वारा होता है। जिस क्रान्ति के द्वारा हमने १९४२ में गुलामी की जड़ काट डाली वही क्रान्ति आज देश को ऊपर उठाने के काम में लगाई जा रही है। हमारी वह जागी हुई भावना जो हमारे भीतर "करो या मरो" की आग भड़का देती है, सभी दिशाओं में हमें आगे बढ़ाती है। इस विषय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। हाँ, तो सैकड़ों साल की गुलामी और उसके आगे की हमारी अव्यवस्था, जिसने महमूद-जैसे डाकू को साहस दिया कि वह भारत को लगातार लूटता रहे, इस बात का उत्तरदायी है कि हमारे भीतर से राष्ट्रीयता और एकता का नाश क्यों और कैसे हुआ। जो इतिहास लिखा जा चुका है उसे हम बदल नहीं सकते, किन्तु नया इतिहास तो अभी लिखा जाना बाकी है और उसी के लिए हमें तैयारी करनी है।

———

# सिक्ख और ५७ का विद्रोह

स्वामी विवेकानन्द की कुछ पंक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं। हमारी स्वाधीनता के शानदार इतिहास में ये पंक्तियाँ हीरों की तरह चमकती रहेंगी। इस भारत माता के लाल ने अपने एक भाषण में कहा था—

"हे भारत,

यह न भूलना कि नीच जाति, मूर्ख, दरिद्र, चमार, मेहतर—ये सब तुम्हारे ही रक्त हैं, तुम्हारे ही भाई हैं।

हे वीर,

साहस अवलम्बन करो और गर्व-सहित बोलो कि—हम भारतीय हैं, भारतवासी मात्र भाई-भाई हैं। बोलो—मूर्ख भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चांडाल भारतवासी—सभी एक माता की संतान हैं, हम सब भाई हैं। बोलो—भारतवासी हमारे भाई हैं, प्राण हैं और भारतीय समाज माता की गोद है जिसमें पाले-पोसे गये, भारत हमारे यौवन का हरा-भरा बागीचा है, भारत की धूलि हमारे लिए स्वर्ग है।

भारत का कल्याण ही हमारा कल्याण है।"

× × × ×

स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों से एक वेदना की

ऐसी लहर पैदा होती है जो भारत के आकाश में गर्मी पैदा कर देती है। इस अमर संन्यासी का यह संदेश मुर्दा दिलों में जान डालनेवाला है और देश के इतिहास को वदल डालने के प्रयत्नों में इन पंक्तियोंने विजली का-सा असर पैदा किया! मुसलमानी शासन के विरोध में देश वार-वार सिर उठाता रहा और राजपूताना की एक-एक ईंट और वहाँ की दुर्गम पहाड़ियाँ ऐसे-ऐसे वलिदानों के किस्सों से भरी हुई हैं कि जिन्हें याद करते ही खून खौलने लगता है। मराठे घोड़सवारों के घोड़ों के टापों से जो धूल उड़ती थी वह दिल्ली के मुसलमान वादशाहों को वेचैन किये रहती थी। अकवर और औरंगजेव-जैसे वादशाहों को कभी सुख से सिंहासन पर वैठने का अवसर विद्रोही भारत ने नहीं दिया; किन्तु गुलामी के वन्धन तोड़ने के वे प्रयत्न राजाओं के द्वारा होते थे—सभी राजाओं की ओर से नहीं—कुछ राजाओं की ओर से। जनजागरण का प्रयत्न भी नहीं किया जाता था। सिक्ख गुरुओं ने जनजागरण का कार्य किया और साम्राज्य-स्थापना के लिए नहीं; वल्कि देश को विजातीय शासन से मुक्त करने के लिए उन्होंने वड़े-वड़े वलिदान किये और अकथनीय कष्ट भी भोगे—वैसे कष्ट उन देश-सेवकों को भोगने ही पड़ते हैं जो जनदेवता के लिए, जनदेवता की प्रतिष्ठा के लिए आगे वढ़ते हैं। सिक्ख

(शिष्य) सम्प्रादाय की उत्पत्ति देशोद्धार के लिए हुई। दुर्गम पहाड़ों और वनों में इस सम्प्रदाय का विकास हुआ। लोहे का एक कड़ा, केश, कंघा, कृपाण और कच्छ [जाँघिया] वस, एक पक्के सिक्ख के लिए इतना ही चाहिए। इतने कम साधनों के साथ सिक्ख-सम्प्रदाय एक योद्धा-वर्ग के रूप में कभी प्रकट हुआ था जिसके नेता थे त्यागी, संत, देशभक्त और तेजस्वी गुरु! यह सम्प्रदाय मुसलमान वादशाहों के लिए सिरदर्द प्रमाणित हुआ। हँसते-हँसते खाल खिंचवा लेना, सिर कटवा लेना या जीते-जी दीवार से चुन जाना इस सम्प्रदाय के विशेष गुण हैं, जिन गुणों ने इसे अमर कर दिया। सिक्ख-सम्प्रदाय का अभ्युदय 'विद्रोही' के रूप में हुआ और मुसलमान शासकों ने इस सम्प्रदाय को समाप्त करने के लिए एक भी उपाय उठा न रखा; किन्तु सिक्ख पनपते ही गये और मुसलमानी शासन की जड़ को कमजोर वनाते गये। १८५७ के विख्यात सिपाही-विद्रोह में फिर भी सिक्खों ने अंग्रेजों का साथ दिया और दिल्ली को फिर से दखल करने में सिक्खों ने प्रमुख भाग लिया। यह स्पष्ट है कि सिक्ख-सम्प्रदाय का जन्म मुसलमानी शासन के विरोध में हुआ था। सिक्खों को तत्कालीन शासन के अत्याचारों के चलते वड़े-वड़े कष्ट उठाने पड़े—यहाँ तक कि गुरु गोविन्दसिंहजी के पुत्रों को जीते-जी

दीवार में चुन दिया गया था। सिक्खों का मन मुसलमानी शासन से बेतरह ऊब चुका था।

१८५७ का नेतृत्व किसी-न-किसी तरह बहादुरशाह के सिर पर लाद दिया गया था जो एक वृद्ध और हताश, शक्तिहीन बादशाह था और अंग्रेजों की दया-भिक्षा के बल पर जी रहा था। मुसलमानी सल्तनत को फिर से मजबूत करने की अपेक्षा अंग्रेजों के साथ मिलकर उसे सदा के लिए समाप्त कर देना ही सिक्खों ने उचित समझा और वे अंग्रेजों के साथ मिल गये, दिल्ली को फिर से जीतकर अंग्रेजों को सौंप दिया। १८५७ के अंतिम दिनों में पासा सिक्खों के हाथ में था—वे अंग्रेज और विद्रोही इन दोनों में से जिसकी भी सहायता कर देते उसी की जीत होती; किन्तु सिक्खों ने विद्रोहियों का साथ नहीं दिया और कारण हम निवेदन कर चुके हैं। निश्चय ही १८५७ का विद्रोह अंग्रेजों के शासन को समाप्त करने के लिए हुआ था; किन्तु फिर मुसलमानों के शासन की स्थापना भी उसका लक्ष्य था। अंग्रेजों की तुलना में मुसलमानी बादशाहत को भारतीय अच्छा समझते थे—यह बात नहीं है—मुसलमानों को भारतीय हिन्दुस्तानी समझने लग गये थे; क्योंकि सैकड़ों साल से मुसलमान यहीं बस गये थे। और मौलाना आजाद के कथनानुसार भारतीय मुसलमानों के शरीर में किसी-न-किसी हद तक

हिन्दुओं का ही रक्त प्रवाहित हो रहा था। सिक्खों ने इस दृष्टिकोण को नहीं अपनाया और उन्होंने पूरा जोर लगाकर ऐन नाजुक घड़ी में अंग्रेजों का साथ दिया; क्योंकि मुसलमानी शासन के अच्छे संस्मरण उनके मन में नहीं थे और उनके वे जख्म अभी ताजे थे जो उनके दिलों में मुसलमानी शासन के प्रहारों से पैदा हो गये थे।

एक वात यह भी है कि सिक्खों को अपनी वादशाहत कायम करने की धुन नहीं थी और भारतीय जिनमें दूसरे वर्ग के लोग थे—ऐसे राज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे जिसका प्रधान कोई वादशाह न हो। नई वादशाहत की स्थापना करने से आसान था पुराने वादशाह को ही मजवूत करके दिल्ली के शासन को दृढ़ वनाया जाय। मराठों और दूसरे लोगों ने शायद यह भी सोचा होगा कि कमजोर वहादुरशाह को नाम मात्र का भारतेश्वर पद देकर अपने प्रभाव में रखा जाय और इस तरह भारत पर शासन किया जाय। इस सम्वन्ध में और वातें हम उस परिच्छेद में कहेंगे जिसमें १८५७ का वर्णन होगा।

इस तरह सिक्खों की सहायता से अंग्रेजों ने फिर से दिल्ली पर अधिकार जमाया और वे भारत का शासन करने लगे।

---

## प्रलय की भूमिका

प्रत्येक परिणाम के पीछे कार्य और उसके पीछे मूल कारण होता है। परिणाम को देख लेने के बाद हम उसी पर सोच-विचार करने लगते हैं और पीछे लौटकर कारण तक जाने का कष्ट नहीं उठाते। जैसा कि हम कह चुके हैं, देश सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहा और गुलामी की मार ने देश के मेरुदंड को ही आहत कर दिया। फिर भी यह बात विचार करने के योग्य है कि गुलामी का विरोध जनता की ओर से नहीं हुआ—हाँ, कुछ सत्ताधारी राजे-महाराजे दिल्ली की हुकूमत का विरोध करते रहे; किन्तु वे भी संगठित रूप से कुछ नहीं कर सके। यदि राजपूताना का कोई तेजस्वी राणा अकबर से लड़ गया तो राजपूताना के ही दूसरे राणा तटस्थ दर्शक बनकर देखते रहे। शायद यह प्रयत्न ही नहीं किया गया कि सारा देश गुलामी के विरोध में उठ खड़ा हो, 'देश' शब्द यहाँ पर राजाओं के लिए कहा गया है। उन दिनों जनता का अलग अस्तित्व नहीं था—राजसत्ता के भीतर ही जनता की सारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, शक्ति निहित थीं। राजा को बाद देकर अपने सम्बन्ध में कुछ भी निर्णय करने की और उस निर्णय को सफल

बनाने की ओर से जनता गाफिल थी। इस तरह
विचार ही जनसमाज में नहीं थे कि जनता की शक्ति अ
है और अपने सम्बन्ध में हिताहित का विचार करने
पूर्ण अधिकार जनता को ही है—राजा तो निमित्तम
है। यह हम बौद्ध युग के बाद की बात कह रहे हैं
जनता गौण हो गई थी और राजा मुख्य, जनता ग
क्या हो गई थी, केवल निरीह भेड़-बकरियों का झुंड
गई थी। राजा का विचार ही सब-कुछ था। राजा
ईश्वर का ही एक रूप माना जाता था। इसी सूत्र
अनुसार "दिल्लीश्वर" को "जगदीश्वर" का पद दि
गया था। भारत के सैकड़ों-हजारों राजाओं में
पारस्परिक एकता न थी। साथ ही वे समस्त देश को मद्दे-
नजर रखकर कभी नहीं सोचते थे—अपने-अपने सिंहासन
की ही बात सोचना उनके लिए पर्याप्त था।

और जनता भी अनेकानेक टुकड़ों, वर्गों, फिर्कों में बँट-
कर बिखरी हुई थी। किन्तु घटना का एक ऐसा धमाका हुआ
कि नये युग की झलक सामने आ गई। हम यह बतलाना
चाहते हैं कि कब से जनता ने अपने सम्बन्ध में सोचना
और निर्णय करना आरंभ किया। निश्चय ही राजाओं का
दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों सीमित होता गया, वे अपने प्रजाहित-
सम्बन्धी कर्तव्य से हटते गये, शासकोचित गुणों का
उन्होंने त्याग करना आरंभ कर दिया या व्यक्तिगत सुख

और आनन्द के लिए प्रजा के हितों का उन्होंने वलिदान करना आरंभ कर दिया या अत्यन्त निर्वल और नाममात्र के नरपति रह गये और वादशाहों के दास बन गये तो जनता के कष्टों की सीमा नहीं रह गई और उसके भीतर चेतना की लहर पैदा होने लगी; किंतु अनुकूलता न पाकर वह लहर पैदा होकर भी कारगर नहीं होती थी, मिट जाती थी, दव जाती थी या दवा दी जाती थी। जनता यह अनुभव तो करती थी कि वह कष्टों में फँसी हुई है और उसका ह्रास हो रहा है; किन्तु वह इन आपदाओं को कैसे मिटावे यह उसे पता न था जवकि उसके कष्टों को कायम रखने के लिए वड़ी-वड़ी शक्तियाँ—राजशक्ति या शाहीशक्ति—पूरा जोर लगा रही थीं। कष्टों को मिटाने के मानी होते राजशक्ति या शाहीशक्ति से लोहा वजाना। सच्ची वात तो यह थी कि एक युग ऐसा था जव शासन विपत्ति के रूप में ही था—विपत्तियों के मिटने का परिणाम होता शासन का मिट जाना। जव किसी देश का शासन उस देश का साधक न रहकर वाधक वन जाता है तव उसकी मौत की तारीख निश्चित हो जाती है। देश तो मरता नहीं; शासन को मरना पड़ता है और उन्हें भी मरना पड़ता है जो उसमें चिपटे रहते हैं। जव जीवन पीड़ाओं का एक समूह वन जाता है तो उसकी दवा है मृत्यु—जव शासन कष्टों का समूह वन जाता है तव

उसकी दवा क्या है—मौत ! आखिर शासन पीड़ा का समूह कैसे बन जाता है—यह एक प्रश्न है। शोषण के लिए जिस शासन का जन्म होता है वह पीड़ा-ही-पीड़ा है; किन्तु शासन-यन्त्र में गलत और हीनवृत्ति के अधिकारियों का इकट्ठा हो जाना भी शासन की पवित्रता का नष्ट होकर उसे दुःखदायी बन जाना है। नाजी जर्मनी के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। हिटलर, गोयरिंग आदि विदेशी नहीं थे; किन्तु उन्होंने अपने "पितृदेश" का शासन गलत ढंग से किया और उसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी की हड्डियाँ चूर-चूर हो गईं। रूस के वर्तमान शासन के सम्बन्ध में भी ऐसी धारणा पुष्ट होती जा रही है।

हाँ, तो अन्त में भारत की जनता ने अपने सम्बन्ध में सोचने का फैसला किया और कब? जब दिल्ली का शासन मृतप्राय हो गया, अंग्रेजों का प्रभाव फैलने लगा और राजे-महराजे जनहित की ओर से विमुख होकर केवल अपने आराम के लिए सिंहासन की चिन्ता करने में प्रवृत्त हो गये। लाचार जनता में अपनी ओर ध्यान देना आरंभ किया। जब जनता अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने उद्धार के लिए उठ खड़ी होती है तो उसकी गति को रोकना असंभव हो जाता है। जनता सदा अजेय रही है। भारत की दासता के लिए उसी दिन चिता

रचा दी गई जिस दिन पहली बार जनता ने यह अनुभव किया कि—"गुलामी का अन्त किसी राजा-महाराजा की सहायता के द्वारा नहीं किया जा सकता। अपना विकास तो स्वयं ही करना होगा—अपने बल से बलवान् बनना ही बलवान् होने का उचित तरीका है।

प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल के गाँवों में यह खबर फैली कि सन्यासियों का विद्रोही दल अंग्रेजों के विरोध में प्रचार और संगठन करता चलता है। यह खबर अत्यन्त गम्भीर थी, क्योंकि पूरे बंगाल और विहार को अंग्रेज हजम कर चुके थे और "ईस्ट इंडिया कम्पनी" के सिक्के बाजारों में चमचमा रहे थे। कम्पनी के कर्मचारी आराम से लूट-खसोट कर रहे थे तथा ढाका आदि के व्यापार और कपड़े का व्यापार दम तोड़ रहा था। यह १७०० और १८०० ईस्वी के बीच की घटना है। अंग्रेज आतंक फैलाकर जनमत को कुचलने की पद्धति के आचार्य माने जाते हैं और बंगाल तथा बिहार की छाती पर अंग्रेजों का सिंहासन स्थापित हो चुका था। और उस भारी सिंहासन के भार से दोनों प्रान्त कराह रहे थे। जीव-स्वभाव की यह विचित्रता है कि विभिन्न जाति और रुचि प्रकृति के जीवों में भी उस समय आश्चर्यजनक एकता स्थापित हो जाती है जब सामूहिक संकट पैदा हो जाता है। पारस्परिक विलगाव का अन्त हो जाता है चाहे यह

परिवर्तन क्षणस्थायी और परिस्थिति-विशेष तक ही क्यों न सीमित रहे।

बंगाल और बिहार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का फौलादी पंजा जैसे ही पड़ा, एक बेचैनी फैल गई। सभी वर्ग और जातियों में एकता की लहर पैदा हो गई। उत्कलप्रांत भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के कब्जे में आ गया। मीरकासिम ने अंग्रेजों के इस जाल से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया किन्तु "बक्सर" (बिहार) के युद्ध ने उसे कुचल डाला। निश्चिन्त होकर कम्पनी ने नये-नये कानून बनाकर लूटना आरंभ किया, जमींदारियाँ नीलाम की गईं, खेत छीने गये और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का सारा वाणिज्य, समस्त व्यवसाय को छिन्न-भिन्न कर डाला गया। अंग्रेज यहाँ या कहीं भी शासन करने नहीं जाते; बल्कि उस देश के बाजार को दखल करना ही उनका उद्देश्य होता है। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दरिद्रता अंग्रेजों के साथ-साथ आई। व्यापारी, कृषक, जमींदार, दुकानदार सभी अत्याचार की आग से झुलसकर व्यग्र हो गये और व्यग्रता की इस ज्वाला से क्रान्ति का जन्म हुआ। जनता सिर से कफन लपेटकर उठ खड़ी हुई। सन्यासियों और फकीरों के कुछ दल देशोद्धार के लिए संघबद्ध होकर प्रचार करने लगे। करीब दो सौ साल की यह पुरानी कहानी है, जब

संन्यासियों और फकीरों का दल नदिया शान्तिपुर, पुरी, गंगासागर आदि तीर्थों में जमा होकर देशोद्धार के उपायों पर ही विचार करने नहीं लगा; वल्कि स्वयं भी जीवन मरण के खेल खेलने के लिये प्रस्तुत हो गया। फकीरों की टोली भी संन्यासियों से पीछे न थी। फकीरों की टोली दरगाहों में इकट्ठी होती और विचार करती। आसाम के गारो पहाड़ के शाह कमाल के दर्गाह में फकीरों की टोली स्वच्छन्दतापूर्वक जुटती थी—इस सुदूर के पहाड़ों में वे अपने को निरापद पाते थे। संन्यासियों और फकीरों में सम्बन्ध था—दोनों अपने-अपने संगठनों से एक दूसरे को अवगत कराते रहते थे। संन्यासियों और फकीरों का यह संगठन मजवूत होता गया। सदस्यों की संख्या आशातीत रूप से वढ़ती गई। संन्यासी-संगठन के नेता थे भवानी पाठक और फकीरदल के मुखिया थे मजनूँशाह! देवी चौधरानी, मदार वख्श, मूछा शाह, चिराग शाह आदि अत्यन्त प्रभावशाली त्यागी व्यक्ति जिन्होंने संगठन को मजवूत वनाया। सन्यासी और फकीर भिखमंगों की शकल में रहते थे, गुदड़ी लपेटे या लँगोटी लगाये। किसी का भी कोई ठौर-ठेकाना या आत्मीय-स्वजन कोई कहीं न था। शरीरमात्र ही उनका अपना था जिसे भी उन्होंने भारतमाता को सौंप दिया था। इनका सम्मान वर्णनातीत था। सभी सच्चे त्यागी

और लोकोपकारी के रूप में घूम-घूमकर संगठन करते थे। संन्यासियों और फकीरों के दल ने अंग्रेजों के अत्याचारों से तंग आकर धर्मचर्चा को उठाकर ताख पर रख देने ही में अपना और देश का कल्याण समझा—अस्त्रचर्चा ही इन दलों के लिए सब-कुछ बन गई। स्वर्ग-कामना का त्याग करके इन संन्यासियों और फकीरों ने मुक्ति-कामना में मन लगाना उचित समझा। तीर्थों और दरगाहों में घूम-घूमकर अस्त्रसंग्रह करना और जनता को भावी क्रान्ति के लिए तैयार करना इनका प्रधान धर्म बन गया। हजार-हजार सर्वहारा इसके दल में आकर मिलने लगे और भारत का एक बड़ा भाग ऐसे संगठन के प्रभाव में आ गया। फिर भी व्यापक रूप से कुछ करने की क्षमता इस संगठन में नहीं थी। यातायात और संवाद-आदान-प्रदान की कठिनाइयाँ इनके सामने थीं। प्रायः चालीस वर्ष तक इन संन्यासियों और फकीरों ने अंग्रेजों के नाक में दम कर रखा। इनके हमलों और आघातों से अंग्रेज सदा कातर रहते थे और भय के मारे भागते फिरते थे। संगठन की एकसूत्रता के अभाव के कारण यह संगठन अंग्रेजों को भारत से खदेड़ने में अक्षम रहा फिर भी अंग्रेजों की जान के लाले सदा पड़े रहे। संन्यासियों और फकीरों का यह विद्रोही दल अंग्रेजों से खुले मैदान में लोहा बजाता और खून की होली खेलता

रहा। छापामार युद्ध की पद्धति को अपनाकर संन्यासियों और फकीरों ने अंग्रेजों को व्यग्र कर रखा था।

१७६०—इस वर्ष संन्यासी-विद्रोह के भय से 'वाट' और 'व्हाइट' नामक दो अंग्रेज-शासकों ने वर्धमान और कृष्णनगर से भाग कर कलकत्ते की शरण ली।

१७६३—फकीरों के दल ने आक्रमण करके वधनगर (बंगाल) के 'टकसाल' को दखल कर लिया। इस टकसाल में कम्पनी के रुपये ढाले जाते थे। फेली और लिसेस्टर नामक दो अंग्रेजों ने किसी तरह भागकर अपने प्राण बचाये।

१७६५—रामपुर व्यायलियर फैक्टरी पर संन्यासियों ने छापा मारा। फैक्टरी पर अपना अधिकार जमा-कर सभी अंग्रेजों को समाप्त कर दिया।

१७६६—कुचविहार के राजा रुद्रनारायण की ओर से संन्यासियों ने खुलकर युद्ध किया और अंग्रेजी सेना का सफाया कर दिया। अंग्रेज-सेनापति मोरिसन भाग गया।

१७६९—जलपाईगुड़ी (आसाम) में संन्यासियों के दल से अंग्रेजों का भीषण युद्ध हुआ। अंग्रेजी सेना हार गई और नष्ट हो गई। सेनापति मार्टन मारा गया।

१७७०—संन्यासी-विद्रोह मिटाने के प्रयत्न में रंगपुर के

मि० मार्टिन मारे गये। मार्टिन के साथ बहुतों को मरना पड़ा।

१७७१—घोड़ाघाट ( बंगाल ) में मि० फेलथम की सेना के साथ फकीरों के दल की भयानक मुठभेड़ हुई।

१७७२—रंगपुर ( बंगाल ) में संन्यासियों और फकीरों से लड़ता हुआ कैप्टन टामस ससैन्य खेत रहा।

१७७३—कुमारखाली ( बंगाल ) के युद्ध में दो प्रसिद्ध अंग्रेज योद्धा मेजर डगलस और कैप्टन एडवर्ड मारे गये। अंग्रेजी सेना तितर-वितर कर दी गई।

इस तरह १७६० से आरंभ करके १८०० तक अंग्रेजों को इन संन्यासियों और फकीरों से लगातार जूझना पड़ा। इन ४० वर्षों का इतिहास भारत के भाग्योदय का इतिहास है जब जनता ने अपने उद्धार के लिए स्वयं हथियार उठाया था। उत्तर विहार, नेपाल की तराई तथा जलपाईगुड़ी, रंगपुर, दिनाजपुर आदि बंगाल के क्षेत्र संन्यासियों और फकीरों की तलवारों के झंकारों से गूँजते रहे। इन देशभक्तों ने दुर्गम जंगलों और भयंकर पहाड़ों की दुर्गम कन्दराओं में किलेबन्दियाँ कर रखी थीं। जलपाईगुड़ी में "सन्यासी-कोट-दुर्ग" आज भी है। भुवाल ( बंगाल ) के दुर्गम वनों में सन्यासियों के गढ़ों के भग्नावशेष आज भी हमारे दिलों में जोश पैदा कर देते हैं। सुना जाता है कि ये संन्यासी और फकीर सिद्ध घुड़सवार

थे। लाठी, वर्छा और वन्दूक के तो ये माहिर समझे जाते थे। वहुत वार तो ऐसा हुआ है कि इस विद्रोहीदल ने लाठी और वर्छों की मार से ही अङ्गरेजी फौज का सफाया कर दिया था। इनके आक्रमण वहुत ही जोरदार और भयानक होते थे। छापा मारकर युद्ध की कला का ज्ञान इस हुतात्माओं को अपरिमित था। जनता इनके साथ थी।

चालीस वर्षों तक यह संगठन कायम रहा और अंग्रेजों की तवाही होती रही। इन देशभक्तों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार को उखाड़ने में सफलता का मुँह नहीं देखा, किन्तु अङ्गरेजों के जघन्य अत्याचारों की वाढ़ को इन्होंने रोक रक्खा। एक आश्चर्य की वात यह है कि संन्यासियों की सेना में संन्यासिनियों की कमी न थी। ये अवलायें शेरनियों की तरह युद्ध में लड़ती थीं, मारती थीं, और मरती थीं। अंग्रेज लेखक इस संगठन को डकैतों का दल कहते थे किन्तु यह वात गंदी झूठ है। चालीस साल तक संन्यासी-विद्रोह चलता रहा और फिर समाप्त हो गया!!! १७६० से आरम्भ होकर १८०० तक चलनेवाला यह भयानक विद्रोह अनुपम था। गृहत्यागी संन्यासियों और फकीरों ने लाखों की संख्या में संगठित होकर अंग्रेजों को अनुभव करा दिया कि भारत पर शासन करना लोहे के चने चवाना है। इस विद्रोह ने स्वभाग्य-निर्णय के लिए जनता में साहस का संचार किया। हारी,

थकी और भयभीत जनता के भीतर बल, उत्साह और निर्भयता की ऐसी आग भड़की कि वह १९४२ तक न बुझ सकी और बुझी भी तो ब्रिटिश साम्राज्य-शाही का जो शासन-चक्र भारत में चल रहा था उसे खाक में मिलाकर ही। प्रायः २०० साल तक विदेशी हुकूमत हमारी भूमि पर चैन से बैठ न सकी और उसे प्रत्येक क्षण भयंकर -से-भयंकर विरोध का सामना करते रहना पड़ा।

जो यह कहते हैं कि भारत ने भेड़ बकरी की तरह गुलामी को सहा, वे यदि भारतीय हैं तो गद्दार हैं और यदि विदेशी हैं तो मूर्ख या धूर्त। भारतीयों के रक्त में उन तत्वों का अभाव है जिनके प्रभाव से खून में गर्मी कभी नहीं आती। चाहे मुसलमानों का शासन हो या अङ्गरेजों का, भारत ने बड़ा-से-बड़ा बलिदान देकर गुलामी का विरोध किया। संन्यासी-विद्रोह के बाद '५७ की घोर क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

——o——

# प्रलय की एक झलक

ऊबी हुई जनता जब छुटकारे का जोरदार प्रयत्न करने लगती है तो दो बातें आप-से-आप हो जाती हैं। पहली बात यह होती है कि क्रान्ति के पोषक तत्व आप-से-आप एक जगह संगठित होने लगते हैं और दूसरी ओर क्रान्ति-विरोधी तत्व आप-से-आप एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। इन बातों के लिये प्रयत्न तो कुछ करना ही पड़ता है किन्तु बाकी कार्य आप-से-आप होते हैं, केवल सुविधा और अनुकूलता पैदा करने की आवश्यकता है। १८५७ की गदर की कहानी भी कुछ इसी तरह की है। क्रान्ति के पोषक तत्वों का गठन तो हुआ किन्तु क्रान्तिविरोधी तत्वों का गठन कुछ ऐसे कारणों को लेकर हुआ कि क्रान्ति सफल न हो सकी!

+ + + +

प्लासी के युद्ध ने भारत के भाग्य को अन्धकार में डुबा दिया और ईस्ट इंडिया कम्पनी का साहस बढ़ गया। यह युद्ध १७५७ को आरंभ होकर उसी साल समाप्त हो गया। देश असंख्य छोटे-बड़े राज्यों में बँट गया था और भारत तथा भारतीय राष्ट्र का कोई स्थान ही किसी के दिमाग में नहीं रह गया था। कम्पनी के लिये यह

लाभदायक था। असंगठित राजे-महाराजे अपने को ही पूर्ण शक्ति-सम्पन्न मानकर व्यग्र रहते थे और दिल्ली का प्रभाव प्रायः समाप्त हो चुका था। अंग्रेजों ने इन राजाओं को त्रस्त करना और उनके राज्य हड़पना आरंभ किया। सन् १८४८ से १८५६ तक अर्थात् डलहौसी के शासन-काल में हर तरह से कम्पनी का राज्य बढ़ाया गया। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की वृद्धि किस तरह हुई इसका पता हमें आँकड़ों से लगता है—

१८६१ से १८७१ तक ४००० वर्गमील और

१८९१ से १९०१ तक १३३००० वर्गमील

केवल तीस साल में ही ४ हजार वर्गमील से यह राज्य बढ़कर एक लाख तैंतिस हजार वर्गमील बढ़ गया। शोषण हो तो ऐसा! बेईमानी और अत्याचार की हद नहीं थी। एगेन्यू तथा एण्डरसन नामक दो अंग्रेज अफसरों की तानाशाही से व्यग्र होकर मुलतान की सिक्ख सेना ने विद्रोह कर दिया था। यह २० एप्रिल १८४८ की घटना है। ये दोनों अंग्रेज सिपाहियों की गोलियों के शिकार हुए। जब महाराजा रणजीत सिंह की महारानी (महाराजा दिलीप सिंह की माता) महारानी झिंदाकौर, इस संदेह पर कि विद्रोह में उनका भी हाथ था, कैद करके काशी भेज दी गई तो सिक्खों में क्षोभ की आग और भी भड़क उठी। यह

घटना सिक्खों को चौखला देने के लिए पर्याप्त थी। पूरा पंजाब कम्पनी के राज्य के अन्तर्गत आ गया। इसी तरह ब्रिटिश जहाजों से छेड़-छाड़ करने का बहाना बनाकर डलहौसी ने 'बरमा' के राजा को दबोच लिया। उसके राज्य का एक बड़ा भाग भी उसने हड़प लिया। उसकी हिम्मत बढ़ती गई—उसकी अत्याचार करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई।

मुलतान की (१८४८) सिक्ख सेना के विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजों को घोर प्रयत्न करना पड़ा और "नरमेध" का आयोजन करना पड़ा। अंग्रेजी फौज ने विद्रोही सिक्ख सिपाहियों को रूई की तरह धुन डाला था—क्षमा, दया और मानवता का गला घोंटा गया। इसके अतिरिक्त किसी राजा के सिर पर बलपूर्वक सन्धि की भयंकर शर्तें लाद दी गईं, तो किसी के दत्तक पुत्र को खदेड़कर राज्य हजम कर लिया गया। टीपू सुल्तान के बच्चों को गिरवीं रख कर अंग्रेजों ने अपनी जघन्य वणिक्-वृत्ति का ऐसा परिचय दिया कि मानवता का दम घुटने लगा। किसी-किसी राजा को यह कह कर पदच्युत कर दिया गया कि वे प्रजा पर अत्याचार करते हैं यद्यपि अंग्रेजों से अधिक अत्याचारी होना दूसरी जाति के लिए असंभव है। मोम की छूरी से गला काटने की कला में अंग्रेज जाति ही पारंगत है। महलों में घुस कर बेगमों के

शरीर पर से गहने तक उतरवा लेना उन दिनों की एक मामूली सी बात थी। राजे-महाराजे और नवाब सभी व्यग्र हो उठे और इस फैलनेवाले संहारक रोग से त्राण पाने के उपाय खोजने लगे। अंग्रेजों का रंग-भेद तो कुख्यात ही है। उन दिनों जब कि फी रुपया २॥ सेर का घी मिलता था अंग्रेज सिपाही का वेतन ४०) प्रति-मास था, जब कि युद्ध में सब से आगे झोंकेजाने वाले और अपने ही भाइयों के कलेजों में संगीन घुसेड़नेवाले भारतीय सिपाहियों का वेतन था केवल ६) प्रतिमास! गद्दारी करने पर भी ६) प्रति मास वेतन ये सिपाही चुपचाप स्वीकार कर लेते थे। मुँह से एक शब्द निकालने पर फौजी अदालत से फाँसी की सजा मिल जाती थी—तोप के सामने खड़ा करके ऐसे सिपाही उड़ा दिये जाते थे। ऐसी कठोरता थी, ऐसा कठोर शासन था!

अत्याचार सहते-सहते राज्यच्युत राजे-महाराजे और सिपाही दोनों तंग आ गये। उन्होंने मन ही मन यह सोच लिया कि अंग्रेजों के हाथों से मरना निश्चित है—चाहे घुल-घुल कर मरें या तोप से उड़ाये जायँ।

उन्होंने तोप से उड़ा दिया जाना ही पसन्द किया और इस विचार के साथ ही १८५७ के विख्यात विद्रोह का पौधा मिट्टी से ऊपर उठ कर हवा में लहराने लगा—बीज-वपन तो स्वयम् अंग्रेजों ने ही किया था और इस बीज

को अपने गरम खून से सींचा था विद्रोही संन्यासियों और फकीरों ने १७६० से १८०० तक।

लार्ड डलहौसी एक कट्टर अंग्रेज शासक था। वह कसम खाकर भारत आया था कि जब तक वह यहाँ रहेगा राज्यविस्तार और अत्याचार करता रहेगा। अक्टूबर १८०० याने आज से १५० साल पहिले उसने एक महिला—एनी बर्नार्ड को एक पत्र लिखा था। उस पत्र में उसने स्वीकार किया था कि—"मैं राज्यों के बाद राज्य प्राप्त करना चाहूँगा और मालगुजारी पर मालगुजारी लाद दूँगा......मैं इतना धन इकट्ठा कर दूँगा कि मेरे मालिकों की धनलोलुपता भी त्राहि त्राहि पुकार उठेगी।"

पता नहीँ इस व्यक्ति का भारत से कब का वैर था। इस डलहौसी ने भारत आते ही अपने राक्षसी कृत्यों का प्रदर्शन आरंभ कर दिया और एक ही झपट्टे में नागपुर, झांसी और सतारा की हत्या इसने कर डाली—ये जिले कम्पनी के अधीन हो गये। "डाक्ट्रिन ऑफ लैप्स" (निःसंतान मर जाने पर किसी राजा के राज्य को हड़प जाने की साम्राज्यवादी नीति) के अनुसार सतारा, नागपुर, झाँसी, करनाटक आदि आठ भारतीय राजाओं के राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य मैं मिला लिया गया। इस से घोर असंतोष का सूत्रपात हुआ। पुत्रहीन राजाओं

के राज्य दखल कर लेने की परिपाटी उसने ही निकाली। अवध के नवाव को खदेड़ कर उसके पूरे राज्य को हड़प लिया। राजाओं के पास की स्वतंत्र सेनाओं को समाप्त करके उनकी रक्षा का भार उसने स्वयम् लिया। इस तरह उन्हें लाचार करके डलहौसी ने जो पातक किया तथा और भी उसने जो अन्याय किये—सब का फल हुआ सिपाही-विद्रोह। '५७ के विद्रोह को जगाने में डलहौसी की नीति ने प्रधान रूप से भाग लिया। केवल ५७ वर्ष वाद वीज से एक पौधा प्रकट हुआ जिसका नाम पड़ा—"सिपाही-विद्रोह"। विद्रोह में प्रत्यक्ष भाग सिपाहियों ने लिया इसी लिये उसका नाम पड़ा सिपाही-विद्रोह। यह नाम अंग्रेजों ने विद्रोह के महत्व को कम करने के विचार से दिया—वह सिपाही-विद्रोह नहीं था "भारतीय विद्रोह" था जो आरंभ हुआ और समाप्त हो गया। लाखों मारे गये, लाखों फाँसियों पर लटका दिये गये। एक सैनिक—मंगल पाँड़े—की गोली से अंग्रेज सैनिक अफसर का मारा जाना गदर का श्रीगणेश वतलाया जाता है। १८५७ के २९ मार्च की यह कहानी है और घटनास्थल है—कलकत्ते की वारकपुर छावनी। यह आग भड़क कर सारे भारत में छा गई। भारतीय सिपाहियों ने प्रत्येक छावनी में विद्रोह कर दिया। गया, पटना, वनारस, कानपुर, लखनऊ, मेरठ, दिल्ली—जहाँ-

जहाँ भारतीय फौजें थीं वे सभी हथियार ले-ले कर मैदान में उतर पड़ीं। जगह-जगह अंग्रेज मारे गये और देश में क्रान्ति की चिनगारियाँ फैल गईं। वसन्त और क्रान्ति का आरंभ एक साथ हुआ। सिपाही अन्धाधुन्ध बढ़ते गये और अंग्रेजी सत्ता के लत्ते उड़ाते हुए दिल्ली तक पहुँचे। लाल किले में दिल्ली का अन्तिम बादशाह बहादुर-शाह एक प्रकार से बन्दी का सा जीवन व्यतीत कर रहा था। उसके हाथों से शासन की बागडोर निकल गई थी और अंग्रेजी हुकूमत से पेंशन के रूप में जो भीख मिलती थी उसी पर शाही परिवार को निर्भर रहना पड़ता था। नख-दंत-विहीन व्याघ्र की तरह बहादुरशाह गजल लिख लिखकर अपने दिल के फफोले फोड़ा करते थे। लाल किला उनके लिए कारागार था और एक दो अंग्रेज सैनिक उच्चाधिकारी बादशाह की गतिविधि पर निगाह रखने के लिये साथ-साथ लगे फिरते थे। सिपाही-विद्रोह की आँधी लाल किले के फाटक पर आकर रुक गई। विद्रोहियों को एक नेता चाहिए और बना बनाया नेता बहादुरशाह उन्हें मिल गया। 'बादशाह' शब्द में जादू भरा हुआ था। उसका महत्व उस समय का भारत भूला न था। विद्रोहियों ने किले में प्रवेश किया और जो अंग्रेज हर घड़ी बहादुरशाह को घेरे रहते थे वे गोलियों के शिकार बना दिए गये। अब बहादुरशाह इच्छा या अनिच्छा

से विद्रोहियों के नेता बन गये या बना दिये गये। फिर से तख्त और ताज के गौरव की स्थापना करने के लिये विद्रोही सिपाही तत्पर हो गये। विद्रोह करने का कोई उद्देश्य तो होना ही चाहिये। साधारण बुद्धि से विद्रोहियों ने यही सोचा। वे अंग्रेजों का अन्त करना चाहते थे किन्तु बादशाही की स्थापना हो जाने से भी गुलामी रह जायगी इस ओर उनका ध्यान नहीं था। वे शायद यह सोचते थे कि मुसलमान बादशाह भारतीय है और भारत पर भारतीय का शासन हो तो वह गुलामी नहीं है। वे भूल गये कि मरहट्टे या राजपूत तथा सिक्ख बादशाहत की जड़ काटने के लिए सैकड़ों साल तक खून बहाते रहे और आज विद्रोही उसी लुप्त बादशाहत में जान डालने का प्रयत्न कर रहे हैं!

इधर कानपुर में पासा पलटा। ताँतिया टोपे और नाना साहब फड़नविस जो क्रान्ति के संचालकों में से थे अंग्रेजी सेना से हार कर कानपुर के मोर्चे पर से भाग गये और कानपुर शहर अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। यह एक अशुभ घटना थी। अंग्रेजों ने सँभल कर आक्रमणों का ताँता लगा दिया। कानपुर, लखनऊ, मेरठ आदि शहर जीतते हुए वे दिल्ली की ओर बढ़े। बरेली में भी विद्रोह का विस्फोट हुआ तथा झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, जो केवल बीस साल की नवयुवती थी, मैदान में उतर

पड़ी। ताँतिया टोपे कानपुर से भाग कर लक्ष्मी वाई से मिल गया और घोर युद्ध के वाद समरभूमि में लक्ष्मी वाई ने वीरगति पाई। भारत के इतिहास में इस वीर नारी का अपना विशेष स्थान है। स्वतन्त्रता के संग्राम का यह वलिदान वेजोड़ माना गया है। इसी वीच में दिल्ली के काश्मीर गेट को तोप के गोलों से उड़ाकर अंग्रेजों ने दिल्ली पर फिर अपना झंडा फहरा दिया। वहादुर शाह वन्दी वना लिया गया तथा उसके पुत्रों और पोतों के सिर काट लिये गये। ताँतिया टोपे भी पकड़ लिया गया। उसे चोरडकैतों की तरह फाँसी पर लटकाया गया। नाना साहव की खोज की गई। पत्ता-पत्ता छान डाला गया किन्तु उनका पता न चला। जगदीशपुर के वीर शासक कुँअर सिंह भी पराजित हुए तथा वे कहाँ भाग गये, आज तक पता न चला।

इसके वाद दमन का दौरा शुरू हुआ। शान्ति-स्थापन के नाम पर अँग्रेजी सेना ने घोर राक्षसता का प्रदर्शन किया। कानपुर से इलाहावाद तक जो सड़क आई है उनके दोनों ओर के वृक्षों की प्रत्येक डाल में विद्रोही सिपाहियों को लटका दिया गया। आस पास के गाँवों के निरीह ग्रामीणों को भी उन डालों में लटकाया गया और झुंड के झुंड सिपाहियों को तोप के सामने खड़ा करके उड़ा दिया गया। स्त्री-वच्चे किसी पर भी दया

नहीं की गई। लूट तो ऐसी की गई कि जिसका वर्णन करना कठिन है। विख्यात सिपाही-विद्रोह का इस तरह अन्त हुआ। दूसरे कारणों के साथ यह भी कहा जाता है कि सिपाहियों ने जनसाधारण में भरोसा पैदा नहीं किया था—जनसाधारण का सहयोग उन्हें प्राप्त न था। साथ ही योग्य नेतृत्व का भी अभाव था। साधारण सिपाही अपने मन से जो चाहते थे करते थे और संगठन के अभाव से उनमें संगठन-सम्बन्धी बल की भी कमी थी। उनका कोई ऐसा कार्य-क्रम भी नहीं था जिसे वे पूरा करते और न कोई ऐसा केन्द्रीय-संगठन ही था जो विद्रोह का समझ बूझकर संचालन करता। साधारण सिपाही अपनी साधारण समझ-बूझ से काम ले रहे थे और इधर अंग्रजों के प्रत्याक्रमण योजनानुसार होते थे और बड़े-बड़े युद्ध-विशारद युद्ध का संचालन कर रहे थे। निजाम हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला आदि के प्रभावशाली राजा और गुर्खा सिपाही अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। अंग्रेजों ने इन्हें जागीर और उपाधियों से तृप्त भी किया था।

१५—१६ मास तक विद्रोह की आँधी बहती रही। १८५८ के जून महीने तक विद्रोह जीवित रहा और तब वह समाप्त हो गया। २८ एप्रिल १६१० के "स्पेक्टेटर" के कथनानुसार गदर में अंग्रेजों ने "कम-से-कम" एक लाख

भारतीयों की हत्या की थी। व्यापार करने के लिए जो गोरी जाति एक दिन भारत आई थी वह अपने हथकंडों के चलते देश पर शासन करने लगी। यूरोप की और खास तौर से अंग्रेजों की यह नीति है कि वे पहले किसी देश में 'तराजू' लेकर जाते हैं और उस तराजू ले जानेवाले दल के पीछे-पीछे टिड्डीदल की तरह सेना वहाँ पहुँच जाती है। उसके बाद देशवासियों का वध आरंभ होता है। यह हत्या केवल शारीरिक ही नहीं होती—सांस्कृतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, मानसिक सभी दृष्टियों से उस देश का गला काटा जाता है और अंग्रेज प्रतिकूल परिस्थिति-वश वहाँ से विदा होने लगते हैं तब उस देश को टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। यह कांड भी बहुत ही विशाल पैमाने पर होता है। विभाजन न केवल धरती का ही होता है बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक विभाजन भी अंग्रेज कर डालते हैं। भारत को आज इसी अत्याचार का फल भुगतना पड़ रहा है। जब तक यहाँ अंग्रेज रहे देश का खून चूसते रहे और जब जाने लगे तो अंगभंग करके चले गये—फिर भी हम 'राष्ट्रमंडल' में हैं!!! अस्तु। इसी (१८५८) साल के नवम्बर में विक्टोरिया ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत का शासन-भार अपने अधिकार में लिया। तब से २५ जनवरी १९५० तक भारत बराबर ब्रिटेन के ताज की छाया में गुलाम बना जीवन के दिन गिनता

रहा। २६ जनवरी '५० को सवेरे १० वजे पूर्ण गणतन्त्र के रूप में नवभारत का उदय हुआ।

राजपूतों को तृप्त करने के लिये विक्टोरिया ने घोषणा की कि अंग्रेजी सरकार भारत में अब राजविस्तार नहीं करेगी। राजाओं से सन्धियाँ की गईं और जनता को यह आश्वासन दिया गया कि अंग्रेजी सरकार धर्म और सामाजिक आचार-व्यवहार में हस्तक्षेप नहीं करेगी। स्वतन्त्रता के द्वितीय महा उद्योग की यह संक्षिप्त कहानी है। संन्यासी-विद्रोह के बाद सिपाही-विद्रोह भारत के मुक्ति-आन्दोलन में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जनता ने गुलामी के विरोध में दो-दो महाक्रान्तियों का संचालन किया और वह भी विना समुचित संगठन और नेता के और तीसरी क्रान्ति हुई १९४२ के १५ अगस्त को। इस क्रान्ति का संचालन भी जनता ने स्वयम् किया। सभी नेता जेलों में बन्द थे फिर भी जनता ने अंग्रेजी शासन की जड़ खोद डाली। जनता सदा अजेय रही है।

---

# प्रलय की दूसरी झलक

१८५७ का विद्रोह दबा दिया गया या स्वयम् दब गया ; किंतु दो बातें प्रकाश में आ गईं—अंग्रेजों की अत्याचार प्रवृत्ति और भारत की विरोध-भावना। ज्यों-ज्यों अत्याचार की प्रवृत्ति बढ़ती गई विरोध-भावना भी उग्र होती गई। अंग्रेज जाति जिद्दी जाति है। वह अपने निश्चय से नहीं बाज आती चाहे वह गलत रास्ते पर ही क्यों नहीं चल रही हो। पृथ्वी के अधिकांश भाग पर शासन करनेवाली अंग्रेज जाति अपनी इसी प्रवृत्ति के चलते आज ठोकरें खा रही है और ब्रिटिश साम्राज्य का एक-एक अंग कट-कट कर उससे अलग होता जा रहा है। कुछ ही दिनों में इङ्गलैण्ड को छोड़कर संसार में कहीं भी अंग्रेजों को बैठने के लिये मुट्ठी भर जगह नहीं रह जायगी, यदि उसने अपना रवैया नहीं बदला। संन्यासी-विद्रोह और सिपाही-विद्रोह भी अंग्रेजों की आँखों पर की पट्टी नहीं खोल सका। वे अत्याचार के पथ का त्याग नहीं कर सके और भारत की भूमि पर प्रथम कदम रखने से विदा होने के अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपना एक ही रवैया रक्खा। सुना जाता है कि अंग्रेज युगधर्म के अनुसार अपने को बदलना जानते हैं, किन्तु इतिहास यह कहता है कि इस मामले में

यह जाति बिल्कुल ही विफल है। परिस्थिति से लाभ उठाने की बुद्धि भी अंग्रेजों में वैसी नहीं है। प्लेग के चलते बम्बई में जो उपद्रव हुए थे उसकी एक झलक आपको पुस्तक के आरम्भ में मिल चुकी है। अब उस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालना उचित जान पड़ता है, क्योंकि उस घटना का अन्त उसी रूप में नहीं हुआ जिस रूप में वह प्रकट हुई और मिट गई। क्रान्ति की भावना सदा प्रकाश में नहीं रहती और न उसमें एकरूपता ही रहती है। वह दब जाती है, किन्तु भीतर ही भीतर सुलगती रहती है और कभी यहाँ और कभी वहाँ भड़क उठती है।

अंग्रेजों के अत्याचार से जब महाराष्ट्र व्यग्र हो गया तो लोकमान्य तिलक ने "शिवाजी स्मृति उत्सव" की योजना नवयुवकों के सामने रक्खी। १८९७ साल के १३ जून को इस उत्सव की नींव पड़ी और इसी महीने की १५ तारीख को "केसरी" का प्रकाशन आरंभ हो गया। इसी महीने की २२ तारीख को दो अत्याचारी अंग्रेज अफसर मारे गये जिन्होंने प्लेगरक्षा के नाम पर बर्बरता का नंगा नाच बम्बई में आरंभ कर दिया था। २६ जून को तिलक भी गिरफ्तार किये गये। १८९७ का यह जून महीना भारत की जागृति के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। शिवाजी ने औरंगजेब के अत्याचारों के विरोध में तलवार

उठाई थी और शिवाजी थे महाराष्ट्र वीर। लोकमान्य तिलक ने शिवाजी-स्मृति-उत्सव के रूप में राष्ट्रीय भावनाओं का जोरदार प्रचार आरंभ किया—हिन्दू-मुसलमान का कोई प्रश्न न था। प्रेरणा और उत्साह के लिए शिवाजी का नाम एक जादू है और वह भी मरहट्टों के लिए। शिवाजी ने औरंगजेब का विरोध किया था वह इसलिये नहीं कि वह मुसलमान, था बल्कि इसलिये कि वह एक अत्याचारी शासक था और भारतीयता को आहत करने की गलती उसने सदा की। 'औरंगजेब की जगह पर अंग्रेज थे और मराठे शिवाजी की खोज कर रहे थे।' वे चाहते थे कि एक दो नहीं घर-घर समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी पैदा हों। अँगरेजों का भारत में रहना उन्हें स्वीकार न था। प्लेग का आतंक और अन्धाधुन्ध मौतें—उस पर रक्षा और सहायता के नाम पर अँगरेजों के अत्याचार! अँगरेजी सरकार ने प्लेग-निवारण के लिए जो कमेटी बम्बई में बनाई थी वह अँगरेजों की ही थी। जान पड़ता है कि प्लेग-निवारण के नाम पर सरकार और कुछ करना चाहती थी। जनता में घृणा, आतंक और रोष बढ़ता ही जा रहा था, किन्तु अँगरेज अपनी राह पर अन्धाधुन्ध आगे बढ़ते जा रहे थे। जिस घर में चूहे मरते या न भी मरते, तो अङ्गरेजों का यह दल अपने सहायकों के साथ घुस जाता और उस घर को लूट लेता। जिसे चाहते

पकड़ कर सूई लगाते और दूर के कैम्पों में भेज देते। जवान औरतों तक का यह हाल था। परिवार के किसी भी व्यक्ति को साथ जाने नहीं देते थे। परिवार के पुरुषों को कैम्पों में भेजकर औरतों-बच्चों को भगवान के भरोसे छोड़ दिया जाता। घर के सामान जला डाले जाते और तरह-तरह के अत्याचार करके परिवार को प्रायः तहस-नहस कर डाला जाता। हिटलर के युग में "नाजी-कैम्पों" की कहानी तो विख्यात है। प्लेग से रक्षा करने के लिए जो कैम्प आज से ४०।५० साल पहले भारत में खोले गये थे वे नाजी कैम्पों जैसे ही जघन्य थे। उस स्थिति की कल्पना कीजिए कि जब एक परिवार की नव-युवती को ये अङ्गरेज यह कहकर परिवार से अलग कर रहे हों कि "उसे प्लेग होने का खतरा है"—तो परिवार की कैसी मनोदशा होगी! कन्या का अपहरण और वह भी कानून के नाम पर—!!! लोकमान्य का खून खौल उठा और सारा महाराष्ट्र प्रान्त मरने-मारने को तैयार हो गया। दंगे हुए और बहुत से अंग्रेज मार डाले गए—आतंक छा गया! प्लेग-कमेटी के दोनों मुखिया अंग्रेज जब सरकारी भवन में विक्टोरिया की सिलवर जुबली के उत्सव में भाग लेकर लौट रहे थे, सड़क पर ही खत्म कर दिये गये। दामोदर चापेकर और बालकृष्ण चापेकर—ये दोनों सहोदर भाई थे। इन्होंने ही जान पर खेल कर इन

अत्याचारियों का सफाया किया। बड़े भाई दामोदर चापेकर को कानून की रस्सी से लटका कर मार डाला गया। दामोदर शहीद हुए, किन्तु उनके बलिदान ने आग में घी का नहीं—पेट्रोल का काम किया। रोष और भी भड़का। लोकमान्य का नेतृत्व रंग ला रहा था।

इस तरह गुप्त तथा सशस्त्र आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ जो सारे भारत में फैल गया। शक्तिशाली ब्रिटिश-शासन को, जो भारत की छाती पर चट्टान की तरह रक्खा हुआ था उसे, कुछ जोशीले नवयुवक बमों और तमंचों के जोर से छिन्न-भिन्न कर डालेंगे—यह तर्क कुछ असंगत-सा लगता है। किन्तु क्षुब्ध और व्यग्र जनता के लिए दूसरा मार्ग भी तो न था। मारना या मरना—नवयुवकों के जीवन का व्रत बन चुका था। श्यामजी कृष्ण वर्मा और राजा महेन्द्र प्रताप आदि विदेशों में विप्लवी दल का गठन करने लगे तथा भारत के कालेजों में विशेष रूप से गर्मी भर गई। नौजवान विद्यार्थी संसार को स्वतन्त्रता का इतिहास पढ़ कर व्यग्र होते थे, क्योंकि वे गुलाम थे। गुलामी अब असहनीय हो रही थी; किन्तु नवयुवकों के सामने कोई निश्चित कार्यक्रम न था। विप्लव या विद्रोह के अतिरिक्त दूसरी बात वे सोच भी नहीं सकते थे। आयर्लैण्ड की क्रान्ति, डच क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति, संन्यासी-विद्रोह, सिपाही-विद्रोह—इस तरह विद्रोहों और

क्रान्तियों के चित्र उनके सामने थे और वे क्रान्ति के द्वारा ही देशोद्धार की बात सोचने को बाध्य थे। संन्यासी-विद्रोह तथा सिपाही-विद्रोह के इतिहास से ये नवयुवक अवगत थे और वे यह भी जानते थे कि किन कारणों से इतने बड़े-बड़े विद्रोह विफल हो गए। सभी कारणों को ठीक-ठीक समझने के लिए विदेशों में होनेवाली क्रान्तियों से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य का अध्ययन इन्होंने किया। स्वाध्याय मंडलों की भी स्थापना की गई और सोच-समझ कर तथा सावधानतापूर्वक क्रान्ति-कारी दलों की स्थपना हुई। इन दलों का एक ही लक्ष्य था और वह था अंग्रेजों को मार भगाना तथा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना कि भारत को गुलाम बना कर रखना अंग्रेजों के लिए असंभव हो जाय। क्रान्तिकारियों का ऐसा विश्वास सकारण था कि जब अंग्रेज पूरी तरह व्यग्र हो जायँगे और भारत में जो उनका निहित स्वार्थ है वह खतरे में पड़ जायगा तो इंग्लैंड की सरकार निश्चय भारत को आजाद कर देने की आवश्यकता का अनुभव करने लगेगी। अंग्रेज व्यापारी जाति है, यदि लाभ के बदले में उसे हानि का ही सामना करने को बाध्य होना पड़ेगा तो निश्चय ही वह अपना विस्तर गोल करेगी। घाटे का व्यवसाय अंग्रेज या कोई भी व्यापारी स्वीकार नहीं कर सकता। शान के लिए शासन करने के दिन

लद गए। अब तो ऐसा युग आ गया है कि शोषण करने के लिए एक देश दूसरे देश का शासन करता है। बादशाहत कायम करके और बादशाह बन कर मौज मारने की परिपाटी यूरोप में बहुत दिन पहिले ही समाप्त हो चुकी है।

भारतीय क्रान्तिकारी दल का संगठन बढ़ते-बढ़ते विश्व-मय हो गया। "संसार के सभी देशों में भारतीय बसे हुए हैं और वे सभी मन-प्राण से भारतीय हैं और भारत के हित के लिए वे सब कुछ करने और सहने को सदा प्रस्तुत रहते हैं। देशभक्ति का जोश भारतीय रक्त का विशेष गुण है। भारतीय, विशुद्ध भारतीय, कभी भी गद्दार हो ही नहीं सकता।"

लन्दन के इम्पीरियल इंस्टिट्यूट की एक बैठक में कर्नल सर विलियम कर्जन ने भारत की बड़ी निन्दा की। मदनलाल धींगरा नाम का एक नवयुवक वहाँ मौजूद था। उसका खून खौल गया और उसने उसी सभा में कर्जन का खून कर दिया। मदनलाल पकड़ा गया, फाँसी हुई; किंतु सारे संसार को यह ज्ञात हो गया कि भारत की प्रतिष्ठा पर कीचड़ उछालने का क्या परिणाम होता है तथा भारतीयों में भी अपनी मातृभूमि के लिए मरने का जोश है। सावरकर बन्धु इसी सिलसिले में पकड़े गए और भारत में जिस अङ्गरेज मैजिस्ट्रेट ने इनके मुकद्दमे का विचार

किया था वह भी किसी नवयुवक की गोली का शिकार हुआ। क्रान्तिकारी दल तूफान की तरह भारत के आकाश में फैल गया और अंग्रेज अधिकारी व्यग्र होने लगे। देशी रियासतों में भी यह दल भर गया तथा आए दिन एक-न-एक भयंकर घटना का विस्फोट होने लगा। फिर भी अंग्रेज न तो सँभले और न उन्होंने अपनी अत्याचारी प्रवृत्ति की ही रोक-थाम की। वे शासक की तरह, शत्रु की तरह, भारत का गला घोटने पर उतारू हो गए और हुतात्माओं का दल जान पर खेल कर मारने और मरने के लिए तैयार हो गया। प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु यह पर्दे के पीछे का संघर्ष कितना भयंकर था उसका यदि पूरा वर्णन किया जाय तो हजारों पेज रँगने पड़ेंगे। क्रान्ति की वलिवेदी पर देश के कितने उत्साही, मेधावी, तेजस्वी और होनहार वीरों को वलिदान होना पड़ा इसकी संख्या वहुत वड़ी है और क्रान्तिकारी संगठनों और उन संगठनों के कार्यों का भी अन्त नहीं है। सारा भारत क्रोध से उन्मत्त होकर क्रान्तिपथ पर अग्रसर हो गया था। भावुक वंगाल अंग्रेजों से अत्यन्त पीडित हुआ था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सव से पहले वंगाल का ही गला घोटा था। अतएव वहाँ का प्रत्येक नवयुवक प्रतिहिंसा का जलता हुआ पिंड वन चुका था। अरविन्द-जैसे तेजस्वी वंगाल के विप्लववादियों का नेतृत्व कर रहे थे और वंगाल के सभी ख्यातनामा

व्यक्ति समर्थन करते थे। पुरानी साम्राज्यवादी नीति के अनुसार अंग्रेजों को विश्वास था कि दमन और अत्याचार से क्रान्ति मिट जायगी। इतिहास साक्षी है कि जब जनता बदला लेने के लिए उतारू हो जाती है तो उसका एक ही परिणाम होता है और वह यह कि सरकार या जनता में से किसी एक का समूल नाश हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जनता का समूल नाश तो होता नहीं, सरकार को ही नष्ट होना पड़ता है; किन्तु इस सत्य की ओर से अंग्रेज उदासीन थे। अंग्रेज लेखकों ने अपनी पुस्तकों में भारतीयों का जो चित्र उपस्थित किया था वह एक जंगली और अपाहिज का चित्र था। इसी चित्र को देख कर अंग्रेज यह सोच रहे थे कि जंगलियों और अपाहिजों को कोड़ों की मार से सुधारा जा सकता है। उन्होंने स्वयम् भारत को नहीं देखा और कागजों, फाइलों और पुस्तकों पर ही आश्रित रहे और इस गफलत का परिणाम भी अंग्रेजों को सूद के साथ भोगना पड़ा। अंग्रेज घृणा के मारे भारतीयों के सम्पर्क में कभी नहीं आते थे। यह घृणा उनके उन अंग्रेज-लेखकों ने फैलाई थी जिनकी दृष्टि में भारत विलासी राजाओं और सँपेरियों का देश था। विलासी राजाओं और सँपेरियों के बीच में मानो यहाँ—भारत में—कोई वर्ग ही न था, कोई स्तर ही न था। भारत को समझ कर उसके साथ व्यवहार करने में अंग्रेजों ने जो गहरा

धोखा खाया उसका दायित्व अंग्रेज लेखकों और पत्रकारों पर है, जिन्होंने घृणा का ही प्रचार किया और कभी भारत के शुद्ध चित्र को अपने जाति-भाइयों को देखने नहीं दिया। भारतीयों और अंग्रेजों के बीच में घृणा की एक दीवार अंग्रेजी लेखकों ने खड़ी कर दी थी। पता नहीं वह दीवार अब भी रहेगी या नहीं, किन्तु आज तक तो है। अंग्रेजों ने यह कभी भी प्रयत्न नहीं किया कि भारत को अच्छी तरह देखा जाय। अंग्रेजों के व्यवहारों ने क्रान्तिवादियों को बराबर बढ़ावा दिया। बंगाल में बहुत सी क्रान्तिकारी-समितियों का निर्माण हुआ; किन्तु वे सब एकसूत्र में गठित हो गईं और इस कार्य को किया अरविन्द के छोटे भाई बारीन्द्र ने जो, 'युगान्तर' के सम्पादक थे तथा जिन्होंने २२ साल तक कालेपानी का नरक भी भोगा। "युगान्तर-समिति" के नाम से विप्लव-वादियों का भयानक संगठन हुआ। बंग-भंग आन्दोलन के नाम से बंगाल में भी क्षोभ पैदा हुआ था और जिसने पूरे बंगाल को पागल बना दिया था उस आन्दोलन का रूप प्रान्तीय नहीं रह गया। बंग-भंग का आदेश रद्द हो गया फिर भी क्रान्तिकारी संगठन में बंगाल पूरी दिलचस्पी लेता रहा। जो आग किसी भी कारण से भड़की वह बुझाई न जा सकी और उसे दबाना ही अंग्रेजों के लिए संभव न था। बंग-भंग आन्दोलन का अस्तित्व

अलग स्वीकार करना गलत होगा। भारत की मुक्ति के लिए जो आन्दोलन जनता की ओर से आरंभ किया गया था उसी का एक परिच्छेद वंग-भंग आन्दोलन भी था। भले ही बंगाल ने वंगभंग के नाम पर बड़े-बड़े बलिदान किए किन्तु उन बलिदानों का असर किसी सीमा या समय के भीतर ही सीमित नहीं रहा। वह भारतमय हो गया और भारत की मुक्ति के प्रयत्न के रूप में उसका रूप, विस्तार तथा विकास हुआ।

पश्चिम भारत के नेता लाला लाजपत राय, दक्षिण के नेता लोकमान्य तिलक और बंगाल के नेता विपिन चन्द्र पाल इस आन्दोलन के समर्थकों के नाम से विख्यात हुए। प्रथम 'बम'-विस्फोट हुआ बंगाल के तत्कालीन लेफ्टनेंट गवर्नर सर एंड्रूज फ्रेजर की स्पेशल गाड़ी को लक्ष्य करके। मानकुंडा और चन्दननगर के बीच में इस गाड़ी को उड़ाने का प्रयत्न किया गया। यह आक्रमण विफल हुआ। इसके बाद कलकत्ता की एक सभा में यही गवर्नर भाषण दे रहे थे कि यतीन नामक एक लड़के ने रिवाल्वर से उन पर गोली चला दी। भाग्यवान सर फ्रेजर बच गए और यतीन दस वर्ष के लिए जेल भेज दिया गया।

तीसरी बार विप्लवियों ने मेदनीपुर ( बंगाल ) के नारायणगढ़ के निकट फिर जोर मारा। बारीन्द्र कुमार

घोष ने स्वयम् प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयम् 'बम' को रेलवे लाइन के नीचे फिट् किया। बम फूटा, इंजन में खराबी आ गई, लाइन उड़ गई, किन्तु भाग्यवान् लाट साहब का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इस तरह आक्रमणों, विफल आक्रमणों और हत्याओं का एक ताँता भारत में बँध गया। कितने अंग्रेज और अंग्रेज अफसर इस उपद्रव के शिकार हुए, यह बतलाना कठिन है।

खुदीराम ने मुजफ्फरपुर में बम पटक कर दो अंग्रेज महिलाओं का खून कर दिया। वह गाड़ी लाट साहब की थी किन्तु उस दिन उस गाड़ी पर एक अंग्रेज बैरिस्टर की स्त्री और पुत्री जा रही थीं। दूसरे दिन खुदीराम पकड़ा गया और उसे फाँसी की सजा दी गई। एक पक्का क्रान्तिकारी कितना साहसी होता है इसका एक प्रमाण खुदीराम को फाँसी देने के समय की एक घटना से मिलता है। इलाहाबाद में खुदीराम ( १६ वर्ष का किशोर ) का मुकद्दमा हुआ। इजलास पर सरकारी वकील ने खुदीराम से पूछा—"तुम्हें डर नहीं लगता?" खुदीराम ने हँसकर उत्तर दिया—"डर? क्या मैं गीता नहीं पढ़ता जो मुझे डर लगे।"

फाँसी का हुक्म सुनकर खुदीराम ने कहा—"जो होना था हो चुका। अब आदेश दीजिए तो मैं आप सब को यह बतला दूँ कि बम कैसे बनाया जाता है।" सभी चकित

होकर उस किशोर का शान्त गम्भीर मुँह देखने लगे।

फाँसी की डरावनी टिकटी पर खुदीराम हँसता हुआ गया और अत्यन्त शान्तिपूर्वक फाँसी की रस्सी को स्पर्श करके वह मुस्कराकर बोला—"यह तो बहुत ही चिकनी रस्सी है। इसमें इतना मोम क्यों चुपड़ा गया है?" गले में फाँसी की रस्सी लगाई गई और जब वह झूल गया तो बोला—"वन्दे मातरम्।"

यह "वन्दे मातरम्" ओज और देशभक्ति का बीजमंत्र है जिसका उच्चारण असंख्य फाँसी पड़नेवालों ने उस समय किया जब उनका गला घुट रहा था या घोटा जा रहा था। "वन्दे मातरम्" के नारे ने कितने ही नवयुवकों को हँसते-हँसते फाँसी की टिकटी पर जाने का बल प्रदान किया—पुलिस की गोलियों के सामने खड़े होने का साहस दिया। यह 'वन्दे मातरम्' मंत्र भारत के उन वीरों का मंत्र है जिनकी पाठन गाथा पढ़कर हमारी भावी संतान गौरव का अनुभव करेगी,—उनकी धमनियों में गरम रक्त का संचार बढ़ जायगा।

खुदीराम के मुँह से निकल कर 'वन्दे मातरम्' अमर हो गया। बंगाल के एक क्रान्तिकारी कवि ने मां से मचल कर पूछा था—

खुदीराम गेलो हाँसिते हाँसिते
फाँसीते करिते जीवन-शेष,

कोनो गो मा, तू तारोई जननी ?
कोनो गो मा, तू तारोई देश ?

* * * *

—खुदीराम हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गया—उसने अपना जीवन शेष किया। क्यों मा, क्या तू केवल उसी की मा है। क्यों मा, क्या तू केवल उसी की मातृभूमि है?—

* * * *

ऐसे प्राणप्रद कवियों ने बंगाल को पागल बना दिया। नवयुवकों के दिलों में आग भड़का दी और वह आग सारे भारत में, प्रत्येक भारतीय के अन्तर में हाहाकार करने लगी और नाव की तरह भारत डगमगाने लगा। किन्तु, अंग्रेज फिर भी अपनी परिपाटी पर ही चलते रहे—दमन, हठधर्मी और शान !!! देखते-देखते सारा देश तूफान से भर गया और दमन का चक्र भी बहुत ही वेग से चलने लगा !

क्रान्ति का यह शानदार शहीद देश में नवजीवन का संचार करके अमर हो गया। देश का कोना-कोना आतंकवाद के भूचाल से त्रस्त हो गया। आतंकपूर्ण घटनाओं का ऐसा ताँता बँध गया कि सर्वत्र चिन्ता और व्यग्रता छा गई। यह सिलसिला तब तक चलता रहा जब तक भारत पूर्ण स्वतंत्र न हो गया। ट्रेन डकैतियाँ, भगतसिंह का बलिदान और ऐसी-ऐसी शानदार घटनाएँ

घटित होती रहीं कि राजनैतिक विवेचकों का दिमाग चक्कर में फँस गया। अंग्रेज भी कमर कस कर तैयार हो गए और क्रान्तिकारी भी सब कुछ करने और सहने पर तैयार थे। माना कि किसी वैधानिक सरकार का समझौता किसी अवैधानिक या गुप्त रूप से संगठित आतंकवादी संस्थाओं से नहीं हो सकता, किन्तु यह बात तो स्पष्ट है कि किसी भी सरकार के विरोध में ऐसी संस्थाओं का उद्भव तभी होता है जब वह सरकार जनता के गले की फाँसी बन जाती है।

अंग्रेजों के असहनीय कारनामों के विरोध में यहाँ आतंकवाद का संगठन हुआ और इस आशा से कि अंग्रेज अपनी चाल में सुधार करेंगे, आतंकवादी अपना सिर कटवाते रहे। किन्तु, जब वे निराश हो गए तो उनकी भावना अंग्रेजों के अस्तित्व के प्रति तीव्र रूप से जाग गई। वे भारत में एक भी अंग्रेज को देखना पसन्द नहीं करने लगे। सुधार के लिए आन्दोलन करनेवाली कांग्रेस भी जब अंग्रेजों का हृदय परिवर्तित न कर सकी तो उसने भी "भारत छोड़ो" और "करो या मरो" का व्रत ग्रहण किया। यह स्पष्ट है कि भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ काटने में जितना हाथ अंग्रेजों का है उतना भारतीयों का नहीं है। शान्तिप्रेमी भारतीय कभी "करो या मरो" का व्रत लेकर १९४२ की क्रान्ति का सृजन नहीं

करते, यदि अंग्रेज समझदारी से काम लेते और भारत-वासियों को भी अपनी ही तरह मनुष्य समझते। दक्षिण अफ्रिका में आज रागद्वेष का वोलवाला है। वहाँ के रहनेवाले अंग्रेज या सफेद चमड़ीवाले भारत से शिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते। हम यह कह चुके हैं कि अंग्रेज जाति जिद्दी और ऐसे गलत तत्वों की वनी हुई है जो परिस्थिति को समझ कर काम करने की वुद्धि उनमें पैदा होने ही नहीं देती। भारतीय क्रान्ति का इतिहास अत्यन्त उज्वल है। सभी वर्गों और जातियों ने इस प्रयत्न में अपना पूरा-पूरा भाग अदा किया। "कोमागाता मारू" जहाज का इतिहास विख्यात है। सिक्खों ने भी इस आन्दोलन में मन-प्राण से भाग लिया। देश में जव दुर्भिक्षादि का भीषण प्रकोप वढ़ा तो सिक्खों का एक दल वर्मा, सिंगापुर (सिंहपौर), मलाया (मलयद्वीप), शांघाई आदि की ओर चला गया। इसी दल के प्रायः हजार-पन्द्रह सौ सिक्खों ने कानाड़ा में आश्रय ग्रहण किया। इन्हें भारतीय होने के कारण अपमान और कष्ट भोगने पड़े। लाला हरदयाल के सम्पर्क में आने के कारण इन सिक्खों में क्रान्तिकारी भावना भर गई। लाला हरदयाल एक विख्यात विप्लववादी थे जो भारत के वाहर रहकर क्रान्ति का संगठन करते थे। सरदार सोहनसिंह, रामचन्द्र पेशावरी, वरकत्तुल्ला प्रभृति सिक्खों के नेता वन

गए और हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी आदि भाषाओं में "गदर" नामका एक पत्र भी निकलने लगा। अंग्रेज क्रोध से पागल हो गए। कनाड़ा की सरकार ने एक ऐसा कानून बनाया कि सिक्खों का वहाँ टिकना कठिन हो गया। लाला हरदयाल पकड़ लिए गए; किन्तु चकमा देकर वे भाग गये। बाबा गुरुदित्तसिंह ने भारत के सिक्खों का एक दल लेकर अपने भाइयों की सहायता के लिए कनाड़ा जाना चाहा, किन्तु उन्हें जहाज ही नहीं मिला। अन्त में हांगकांग का "कोमागाता मारू" नामक एक जहाज ठीक हुआ। ४०० सिक्खों के साथ जब यह जहाज कनाड़ा के तट पर पहुँचा तो वहाँ की सरकार का आदेश इन्हें सुनाया गया—"एक भी यात्री उतरने नहीं पावेगा।" जब सिक्ख अड़ गए तो जंगी जहाजों ने आकर कोमा-गाता मारू को चेतावनी दी कि वह यदि कनाड़ा का बन्दरगाह नहीं छोड़ेगा तो गोला मार कर डुबा दिया जायगा। लाचार कोमागाता मारू को लौटना पड़ा। दो मास बाद यह अभागा जहाज कलकत्ता पहुँचा। यहाँ भी सिक्खों से पुलिस का संघर्ष हो गया। बहुत से सिक्ख मारे गए। इन सिक्खों को पुलिस पंजाब भेजना चाहती थी, ये कलकत्ता जाना चाहते थे। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार १८ सिक्ख पुलिस-संघर्ष में खेत रहे। इस गोलमाल से लाभ उठाकर बाबा गुरुदित्त सिंह २९

सिक्खों को लेकर गायब हो गए।

कोमागाता मारू जहाज की यह दुःखान्त कहानी है जो खून-खराबी के साथ समाप्त तो हो गई, किन्तु भारतीय क्रान्तिवादी दल में एक नया जोश पैदा हो गया। १८५७ में अंग्रेजों की लुप्तप्राय सत्ता को भारत में फिर से स्थिर करनेवाली वीर सिक्ख जाति को भी अंग्रेजों को गरमा-गरम गोलियों का रसास्वादन करना पड़ा। सिक्खों में भी बेचैनी फैल गई तथा अंग्रेजों के प्रति उनके हृदय में भी घोर घृणा का संचार हो गया। निश्चय ही सिक्ख-सम्प्रदाय कट्टर राजभक्त था। विभिन्न लड़ाइयों में सिक्खों ने अंग्रेजी झंडे की मान-रक्षा की थी और अपना सिर कटवाया था। किन्तु, कोमागाता मारू जहाज का एक ऐसा भयानक उदाहरण सिक्खों के सामने उपस्थित हो गया कि वे आग-बबूला हो गए। अपनी सेवाओं का पुरस्कार राइफल की सनसनाती हुई गोलियों के रूप में पाकर सिक्खों के हृदय में अंग्रेजों के प्रति जरा सी भी सहानुभूति नहीं रही। अंग्रेजों ने इस देश में अपने अन्तिम बहादुर समर्थकों से हाथ धो लिया। राजे-महाराजे अंग्रेजों के भक्त थे या दूसरे प्रकार के भारतीय उनके सेवक थे, किन्तु अंग्रेजों के कन्धे से कन्धा भिड़ा कर अगले मोर्चे पर चट्टान की तरह स्थिर रहनेवाला सिक्ख-वर्ग ही था जिसने अंग्रेजों का हृदय से साथ छोड़ दिया। सही

बात तो यह है कि भारत का कोई वर्ग या सम्प्रदाय कभी भी गुलामी का भक्त नहीं रहा। बुरी तरह दबोचे जाने के कारण बेचारे महाराजे अंग्रेजों को सलाम किया करते थे। स्वराज्य मिलते ही इन राजाओं ने देश का साथ दिया और अपूर्व त्याग का उदाहरण उपस्थित किया।

विद्रोह की आग दबी नहीं—फैलती गई। सिक्ख संप्रदाय का नया सहयोग विप्लवी दल को मिला, जिसका श्रेय कोमागातामारू को है। पंजाब में भी आग भड़क उठी और जगह-जगह सिक्खों से पुलिस का संघर्ष हुआ और सिक्खों के खून से उनका प्रान्त सींचा जाने लगा। कर्तार सिंह नामक एक सिक्ख विद्रोही ने सरकारी फौज में (सिक्ख सेना में) विद्रोह की आग भड़का दी। भाई परमानन्द, विष्णु पिंगले, जगत् राम आदि क्रान्ति-दर्शियों ने कर्तार सिंह का साथ दिया। मेरठ, लखनऊ, कानपुर, प्रयाग, जब्बलपुर, अम्बाला, फिरोजपुर, लाहोर, रावलपिंडी-सर्वत्र यह आग पहुँच गई। लाहोर विद्रोहियों का गढ़ था। रासविहारी बोस ने विद्रोह की एक योजना बनाई। स्वतन्त्र भारत की ध्वजा, वर्दी आदि सारी वस्तुओं का निर्माण चालाकी से किया गया—यहाँ तक कि विद्रोह की घोषणा की एक तिथि भी निश्चित कर दी गई। बारूद-खाने के पलीते में आग लगाने भर की देर थी—धड़ाका होने में विलम्ब न था। बहुत ही सावधानतापूर्वक

व्यवस्था की गई, किन्तु किसी सूत्र से पुलिसको पता चल गया और एकाएक धर-पकड़ आरंभ हो गई। विस्फोट होते-होते वच गया। कर्तार सिंह, पिंगले, जगत् राय पकड़ लिये गए। शेष क्रान्तिकारी भाग खड़े हुए। २८ व्यक्तियों को फाँसी दे दी गई—पिंगले, कर्तार सिंह, जगत राय सभी लटका दिए गए !!! एक अध्याय समाप्त हो गया, किन्तु वहुत से अध्याय अछूते रह गए थे। समय आता गया और इन अछूते अध्यायों के चमत्कार भी सामने आते गए। क्रान्ति मानव का प्रकृतिगत धर्म है—वह मर नहीं सकती। भारत के पड़ोसी राज्यों में भी भारतीय आंतकवादियों ने अपना गढ़ वना रक्खा था। कावुल में वैठ कर राजा महेन्द्र प्रताप वरकत्तुल्ला, ओवेदुल्ला, मौलाना महमूद, मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना आजाद प्रभृति वहुत से व्यक्तियों ने षड्यन्त्र कर रक्खा था। राजा महेन्द्र प्रताप भारतोद्धार के लिए विश्व-भ्रमण कर रहे थे और इस देश से उस देश का चक्कर काट रहे थे। इनकी जमीदारियाँ जब्त कर ली गई थीं और इनके निकट सम्वन्धी होने के कारण नाभा के महाराज रिपुदमन सिंह भी नजरवन्द रह कर मरे।

यह स्पष्ट हुआ कि विद्रोही दल का संगठन धीरे-धीरे विश्वमय हो गया था। न केवल भारत में ही, वल्कि भारत के वाहर भी यह संगठन काम करता जा रहा था।

हम नहीं कह सकते कि देश के कल्याण के लिए यह मार्ग सही था या नहीं; किन्तु इसके भीतर कई बातें ऐसी हैं जिन पर विचार कर लेना उचित जान पड़ता है।

हम कह चुके हैं कि षड्यन्त्र और आतंकवादी कार्रवाईयाँ यूरोप की देन हैं, जिसका अनुसरण भारत ने किया। भारत के राजनीतिशास्त्रों (कौटिल्य आदि आचार्यों के ग्रन्थों) में भी "षड्यन्त्रों" का उल्लेख है, किन्तु अंग्रेजों के विरोध में जो क्रान्तिकारी संगठन यहाँ हुए वे विदेशी राजनीति शास्त्र की ही देन है। आयरलैंड, रूस आदि देशों का इतिहास हमारे सामने है। रूस की जारशाही के विरोध में लेनिन ने आतंकवाद का तूफान खड़ा कर दिया था। आयरलैंड का अतंकवादी नेता था डी० वेलरा और टर्की का था कमाल अतातुर्क। हमारे यहाँ के नवयुवक अपने रक्त की गर्मी को पचा नहीं सके और तोड़-फोड़ तथा खून खराबी पर उतर आए। इतना होते हुए भी यहाँ किसी तरह के "वाद" की हवा नहीं आई थी। आतंकवादी इतिहास से यही पता चलता है कि भारत के सभी आतंकवादी शुद्ध भाव से एकमत होकर देश को अंग्रेजों से मुक्त करने के लिए प्राणों की बाजी लगा कर काम कर रहे थे—किसी तरह के 'वाद' की चर्चा उन दिनों न थी। एक बात यह भी है कि भारतीय आतंकवाद शुद्ध भारतीय था। किसी भी विदेशी संगठन या सरकार की

देख-रेख में यह आन्दोलन नहीं चलाया जाता था। आज का साम्यवादी आन्दोलन रूस के बल से बलवान है; किन्तु उस युग का अपने ही बल से बलवान था।

यद्यपि १९१८ में ही रूस एक प्रकार से स्वतन्त्र हो गया था फिर भी भारतीय आतंकवाद पर उसका प्रभाव न था। यह बात दूसरी है कि वहाँ की घटनाओं से यहाँ के आतंकवादियों को प्रेरणा और उत्साह मिलता रहा हो। काकोरी षड्यन्त्र या भगतसिंह का कांड सभी पूर्णतः स्वदेशी थे—विदेशी प्रभाव से इन घटनाओं को अछूता ही कहा जा सकता है। रूस के एजेंट के रूप में एम० एन० राय यहाँ आए और जेल भेजे गए, किन्तु इनका प्रभाव यहाँ के आतंकवादियों पर नहीं था। डाँगे आदि की भी यही कथा है। भारतीय क्रान्तिकारी अपने ही बल से बलवान रहना चाहते थे। इस आतंकवाद में स्त्रियों का भी योग रहा है। आसाम पहाड़ की नवयुवती रानी गुइडालो तथा एक बंगाली-युवती ने अपने साहस का ज्वलन्त परिचय दिया है। गुइडालो ने आसाम के कबायलियों में विद्रोह की आग भड़का दी तथा बंगाली युवती ने कलकत्ते की युनिवर्सीटी में, जब कि बंगाल-गवर्नर विद्यार्थियों को पदवी प्रदान कर रहे थे, उन पर अपने रिवाल्वर से गोली चला दी। न केवल झाँसी की लक्ष्मीबाई, बल्कि भारत की नारियों में भी देशप्रेम की आग

उसी तेजी से धधकती रही। ख्वाजा हसन निजामी, जिन्होंने, ५७ के सिपाही-विद्रोह पर बहुत कुछ लिखा है, अपनी एक पुस्तक में कहते हैं कि उन दिनों में जब दिल्ली को अंग्रेजों ने घेर रक्खा था और विद्रोही शहर के भीतर कैद हो गये थे हरे रंग का बुर्का लगाये एक तेजस्वी रमणी विद्रोहियों के हारे और थके हुए दिलों में उत्साह भरती देखी गई थी। यह रमणी आश्चर्य-जनक रीति से सर्वत्र दिखलाई पड़ती—पड़ाओं में, मोर्चे पर और वहाँ पर भी जहाँ पर अंगरेजी-तोपों के गोले गिरा करते थे। भारत का गौरव-स्तम्भ केवल पुरुषों के ही प्रयत्नों से खड़ा किया गया है ऐसी बात नहीं है—कोमलांगिनियों ने भी अपने मेंहदी लगे हाथों में तलवार लेकर उस स्तम्भ के निर्माण में योग दिया है। भारत की नारियाँ केवल घर की देवी ही नहीं रही हैं—रण की चंडी कहलाने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है।

क्लबों पर, रास्ते में, ट्रेन पर और खुली अदालत में सब जगह अंगरेजों पर आक्रमण किये गए और छोटे-छोटे बच्चों से लेकर वृद्ध तक इस आतंकपूर्ण कार्रवाइयों में सोत्साह भाग लेते रहे। खुदीराम १६ साल का एक नाबालिग लड़का था जिसे फाँसी दी गई थी। १६ साल की उम्र से भी कम उम्र के लड़कों को सजाएँ दी गईं। भारत के कानून के इतिहास में ऐसी घटनाओं को

घृणा का स्थान मिलेगा, यह ध्रुव सत्य है। हम यह कह चुके हैं कि यह आतंकवाद तबतक हमारे यहाँ जागता रहा जब तक स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो गई।

भारतीय आतंकवादियों के मार्ग-प्रदर्शक 'मार्क्स' या "गैरीबाल्डी" के सिद्धान्त नहीं थे। 'गीता' इनका प्रकाश था और गीता को भयानक अस्त्र के रूप में जनता के सामने रखने का श्रेय लोकमान्य को है। 'गीता' को एक धार्मिक ग्रन्थ माना जाता था और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति या धर्मव्यवसायी 'गीता' का पठन-पाठन करते थे। लोकमान्य जब जेल में थे तो उन्होंने 'गीता' के मर्म को समझा और उसकी एक ऐसी व्याख्या की कि 'गीता' कर्मयोगशास्त्र के रूप में हमारे सामने आ गई। नवयुवकों ने गीता को अपनाया तथा प्राणों का मोह छोड़कर कर्म करने की ओर उनकी प्रवृत्ति गई। अर्जुन की तरह हमारे नवयुवक निःस्पृह होकर युद्धक्षेत्र में उतर पड़े। साहस तथा आत्मनिर्भरता का बल गीता ने उन्हें दिया। भारतीय आतंकवाद के इतिहास में बम और तमंचे का जो स्थान है गीता का स्थान उससे कहीं उच्च है। गीता ने नवयुवकों को बतला दिया कि देह नाशवान है और आत्मा अमर। उठो और कर्म करो। मारे गए तो स्वर्ग मिलेगा और विजयी हुए तो पृथिवी का राज्य!

गीता ने अपने प्रभाव से हजारों हजार नवयुवकों में

जूझने की प्रेरणा पैदा कर दी, उन्हें कष्टों से निडर बनाया तथा मृत्युभय से उनका त्राण किया। सबसे बड़ी बात हुई कि नवयुवकों में 'जड़वाद' की लहर नहीं फैल सकी और उच्च आदर्श, त्याग की आध्यात्मिक भावना का ही प्रसार भारतीय आतंकवादी आन्दोलन के आरंभिक भाग में हम पाते हैं। १९३० के बाद 'गीता' का स्थान 'मार्क्स-वाद' ने लिया तथा नवयुवकों में उग्रता तथा कट्टरता की झलक पाई जाने लगी जो भारतीयता की देन नहीं कही जा सकती। यद्यपि आतंकवादी आन्दोलन एक हिंसात्मक आन्दोलन था, फिर भी उसमें काव्य जैसी लुनाई थी, भावुकता की और आदर्शों की उच्चता थी। जब से मार्क्सवाद ने इस आन्दोलन को प्रभावित करना आरंभ किया इसके भीतर का सारा सौन्दर्य गायब हो गया तथा त्याग, बलिदान और उच्चाशयता के बदले में कठोरता तथा चिड़चिड़ापन—कुछ-कुछ डकैतों जैसा—स्पष्ट होने लगा। आध्यात्मिक कोमलता के बदले में भौतिकवादी रूक्षता ने भारत के विप्लववादी आन्दोलन के कला-पक्ष का नाश कर दिया और वह एक निर्दय तथा अग्राह्य चीज बन गई और जन-सहानुभूति से भी यह आन्दोलन वंचित होता गया। खुदीराम और उसके जैसे अनेक प्रातः-स्मरणीय सपूतों के बलिदान की कहानियाँ हृदय को गौरव का बोध करानेवाली थीं, न कि मन को भयाकुल

करनेवाली। भारत के आतंकवादी मानवता के उच्चादर्शों के प्रतीक थे जो सबके लिए जीवित रहना चाहते थे और सबके लिये हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गए। वीरतापूर्ण वलिदानों की कहानियाँ ही ऐसी होती हैं जो नसों में जमे रहनेवाले खून में रवानी पैदा करती हैं। किसी जाति के सम्बन्ध में यदि कुछ जानना हो तो यह जानना आवश्यक होगा कि उस जाति में वलिदान देनेवाले हुए हैं या नहीं—तलवार चलानेवाले तो वर्वरों में भी पाए जाते हैं।

वंगभंग आन्दोलन के दो वहादुर कन्हाईलाल दत्त और सत्येन को फाँसी की सजा हुई। दोनों नवयुवक और सिपाही थे—भारतमाता के सिपाही—जनता के सिपाही। फाँसी का हुक्म मिलने के वाद कन्हाईलाल इतना प्रसन्न हुआ कि उसका वजन ८ सेर वढ़ गया। एक अंग्रेज संतरी जो उसकी कोठरी के दरवाजे पर पहरा देता था कन्हाईलाल की प्रसन्नता देखकर अत्यन्त प्रभाविन हुआ। उसने कन्हाईलाल से पूछा—"तुम डरते नहीं? अब तुम्हें फाँसी दी जायगी।"

कन्हाईलाल ने कहा—"दोस्त, मैं अमर तो नहीं हूँ।"

उस अंगरेज संतरी ने कहा—"मुझे आश्चर्य है कि जिस देश में तुम्हारे ऐसे वहादुर हों वह आज तक गुलाम कैसे है? वह देश धन्य है, जिस देश में तुम्हारे जैसे वीर हों।"

ऐसे कट्टर बहादुरों ने भारत का मुख उज्वल किया। मृत्यु के सिरपर भी पाँव रखकर लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले इन वीरों की पवित्र कहानियाँ अब सुनने और सुनाने की चीज रह गईं। उन वीरों के सामने पार्टी का या किसी विशेष दल या वर्ग का प्रश्न नहीं था। वे भारत को,—उस भारत को जिसका अतीत शानदार था—फिर पूर्व प्रतिष्ठा के आसन पर देखना चाहते थे न कि एक दल के शासन से मुक्त कराके दूसरे दल की फाँसी की रस्सी में उसे फँसाना चाहते थे। लोकमान्य, सुरेन्द्रनाथ, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय आदि उन प्रातःस्मरणीय देवतात्माओं में थे जिन्होंने मातृभूमि के लिए अपने को न्योछावर कर दिया था। बहुजनहिताय और बहुजनहिताय ही जिन्होंने सदा सोचा, कार्य किया और भयकातर तथा निराश देश को शेर बना दिया। भारत के आतंकवाद का इतिहास अत्यन्त उज्वल और गौरवपूर्ण है। मानवता का पूर्ण विकास हम इस इतिहास के पृष्ठों पर देखते हैं। उन वीरों की जय हो जिन्होंने देश का मान बढ़ाया!

——:o:——

# प्रलय की तीसरी झलक

[१९]४८ का वैसाख !

यों तो गया की गर्मी कुख्यात है, किन्तु राजधानी [क]ी बात ही न्यारी है। फिर भी मैं पटना पहुँच गया। [अ]पने एक कृपालु एम० एल० ए० के क्वार्टर में ठहर गया [ज]ो असेम्बली-भवन के निकट ही था। यह आर-ब्लाक [क]हा जाता है और सुन्दर बने हुए क्वार्टरों की एक [शा]न्त बस्ती है। असेम्बली के सदस्यों के लिए ये क्वार्टर [ब]ने हुए हैं जिनमें ऊबे हुए, थके हुए और कुछ मन्त्रियों [क]े चारों ओर मँडरानेवाले सदस्य ठहरते हैं। मुझे [त]त्काल पता चला कि मेरे पड़ोसी नेताजी सुभाषचन्द्र [ब]ोस के सेक्रेटरी-जनरल श्री आनन्दमोहन सहाय हैं। [गु]लाम भारत को स्वतन्त्र करने का जैसा प्रयत्न सुभाष [ब]ाबू ने किया था भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में [अ]पना गौरवपूर्ण स्थान रखता है और आनन्द मोहन [स]हाय का नाम भी उन देशभक्तों में लिया जायगा [ज]िनके हृदय में मातृभूमि की गुलामी को देख कर कराह [उ]ठा करती थी। आनन्दमोहन जी शान्त और मिष्ट-[भ]ाषी एक लम्बे सुन्दर सज्जन हैं जिनके जीवन का [अ]धिकांश भाग राजनैतिक कामों में बीता और कुछ वर्ष

तो बहुत ही सनसनीखेज रहे। जब वे सुभाष बाबू के साथ जापान में आजाद हिन्द फौज का संगठन करते रहे तथा जापान से जर्मनी की दौड़ लगाते रहे ; जनरल तोजो और हिटलर के लगातार सम्पर्क में रह कर आनन्द मोहन जी ने शायद यह आशा की होगी कि भारत का उद्धार इनके सहयोग से संभव है—मैंने आनन्दमोहन जी से परिचय स्थापित कर लिया और वे खुलकर बातें करने लगे। वर्षों वे जापान में रहे, वहीं उन्हें सुभाष बाबू का साथ हुआ। संगठन और आजाद हिन्द फौज की बातें मैं उनसे सुनता रहा तथा इस भयानक प्रयास के सम्बन्ध में मैंने अच्छी खासी जानकारियों का संग्रह दिमाग में कर लिया। ज्यों-ज्यों मेरी जानकारी बढ़ती गई आनन्दमोहन जी के प्रति मेरा अनुराग भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उन्होंने मेरा विश्वास किया। राजनीतिज्ञ प्रायः लेखकों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं किन्तु उन्होंने मुझे अपना मित्र समझा। मैं उनका कृतज्ञ हूँ। आनन्द-मोहन जी का अतीत निश्चय ही अचरजभरा था!

* * * *

सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के सभापति पद से हटने के बाद जेल चले गए। जेल में इन्होंने दाढ़ी रख ली और कुछ ही दिनों में इनका भरा हुआ चेहरा दाढ़ी और मूछों से ढक गया। अब इनके दिमाग में छुटकारे

की बात आई। अपने किसी बात को लेकर उपवास करना आरंभ किया। जब इनकी हालत गिरती गई तो अंग्रेजी सरकार ने इनको जेल से निकाल कर कलकत्ता—इनके घर पर—पहुँचा दिया। ये अपने घर पर ही नजरबन्द कर लिए गए। दरवाजे पर कड़ा पहरा बैठा दिया गया और सुभाष बाबू ने भी अपने आपको एक कमरे में बन्द कर लिया। वे अपने कमरे में बैठ कर क्या करते थे यह किसी को भी पता नहीं चला। साधारणतः लोगों ने यही सोचा कि सुभाष बाबू मनन और स्वाध्याय में लगे रहते हैं। उनका स्वभाव भावुक था और वे एक अत्यन्त तेजस्वी नेता थे। भोजन और आवश्यक चीजें दरवाजे के बाहर रख दी जाती थीं और इतना साहस भी तब किया जाता था जब वे माँगते थे। वे प्रायः मौन रहते थे और पढ़ा करते थे। यह १९३९ ई० के अन्तिम दिनों की बात है। द्वितीय महायुद्ध पूर्ण वेग से चल रहा था तथा नाजी सेना प्रत्येक दिन किसी न किसी देश को रौंद रही थी। जापान चीन से भिड़ा हुआ था— सारा संसार युद्ध के आतंक से त्रस्त था। कांग्रेस ने युद्ध में हाँथ बँटाने से इनकार किया था किन्तु उसकी इनकारी कुछ शर्तों के साथ थी। कहा यह जाता था कि—"स्वतन्त्रता दे दो—तब एक स्वतन्त्र देश की तरह हम इंग्लैंड की सहायता करेंगे।"

अंगरेज इतने सस्ते भारत को छोड़ने के लिए तैयार न थे जब कि वे भारत का दोहन आराम से कर रहे थे। गरीबी के कारण कुछ रुपयों के लिए मरने वाले रंगरूटों की कमी न थी और युद्धोपयोगी दूसरे साधनों पर अंगरेजों का एकाधिकार था। अब रही देश की सहानुभूति की बात सो अंगरेज उसका कोई मूल्य नहीं आँकते थे। वे प्रत्यक्ष लाभ को ही लाभ समझते थे। सहानुभूति हो या न हो इसकी परवा अंगरेज क्यों करने लगे जब कि देश के पूँजीपति जमीन्दार, महंत, पंडे, राजे महराजे, उपाधिधारी सभी अंगरेजों के साथ लगे-लगे फिरते थे। मुसलिम लीग ने भी सहयोग दिया था तथा हिन्दू महासभा भी जोर लगा कर युद्ध में अंगरेजों का साथ दे रही थी। हिन्दू महासभा की लचर दलील थी—फौज में भर्ती होने से हिन्दू युद्धविद्या की जानकारी प्राप्त करेंगे जिसका उनमें अभाव है।

कहने का तात्पर्य यह कि जमीन्दार, पूँजीपती, राजे, उपाधिधारी, धनीमानी भारतीय, महंत और पंडे सभी अंगरेजों की पीठ पर थे। साधारण जनता कांग्रेस के साथ थी किन्तु सेना के लिए सिपाही साधारण जनता ही दे रही थी। कांग्रेस की धमकी से अंग्रेज नहीं डरे और वे युद्ध का खेल खेलते रहे। देखते-देखते सारा संसार युद्ध की लपेट में आ गया। स्पेन, टर्की और भारत—ये

तीन देश युद्धक्षेत्र नहीं बन सके। भारत तो अंगरेजों का गुलाम था—इसकी अपनी इच्छा या अनिच्छा का कोई सवाल ही नहीं था। भारत की साम्यवादी पार्टी भी युद्धोद्योग में भाग लेने लगी, जब रूस युद्ध में कूद पड़ा। साम्यवादी पार्टी युद्ध को "जनयुद्ध" कहने लगी जो एक बे-सिर-पैर की बात थी। रूस के इशारे पर नाचनेवाली इस पार्टी की स्थिति एक गद्दार से किसी तरह भी अच्छी नहीं कही जा सकती जिसका न तो कोई अपना कार्यक्रम था और न अपनी नीति थी।

सुभाष बाबू ने चुनाव लड़कर कांग्रेस का प्रधानत्व प्राप्त किया था और डाक्टर सीतारामैया की हार को गान्धी जी के इस उच्छ्वास ने और भी गम्भीर बना दिया था कि—"पट्टाभी की हार मेरी हार है।"

सुभाष बाबू कांग्रेस के भीतर टिक न सके और जब वे अपने पद से इस्तीफा देकर बाहर चले आए तो उन्हें ऐसा लगा कि वे भारत में बैठ कर भारत के लिए कुछ भी करने की स्थिति में नहीं हैं। कांग्रेस-संगठन के भीतर टिकना उनके लिए कठिन था और कांग्रेस का विरोध करना भी उनके लिए कठिन। रामगढ़, कांग्रेस में मैंने सुभाषबाबू को एक हारे और थके हुए सिपाही की तरह देखा था जो समझौता-विरोधी सभा के ऊँचे मंच पर इस तरह बैठे थे मानो शून्य में कुछ खोज रहे हों। सुभाष

बावू के भीतर ज्वलन्त देशभक्ति हिलोरें मार रही थी और वे देश को शानदार सेवा करना चाहते थे, किन्तु कई कठिनाइयाँ उनके सामने थीं। उनका स्वाभिमान कांग्रेस के सामने झुकने का आदेश नहीं देता था और वे कांग्रेस का विरोध करके उसे कमजोर बनाना भी नहीं चाहते थे। सुभाष बावू जानते थे कि महात्मा जी के नेतृत्व में अग्रसर होने वाली कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है जिस के नेतादल में नेहरू जी, पटेल जी जैसे तपे हुए महामानव हैं।

सुभाष बावू का मन भीतर ही भीतर व्यग्र हो रहा था। वे सोच रहे थे कि युद्ध ने अंग्रेजों की रीढ़ पर ऐसी लात मारी है कि वे सीधे तन कर खड़ा होने की स्थिति में नहीं रहे। अवसर से लाभ उठाने का मार्ग सुभाष बावू खोज रहे थे जब कि कांग्रेस समझौता के मार्ग का अवलम्बन करके अंगरेजों की कसी हुई मुट्ठी को ढीली करने की नीति पर चल रही थी। सुभाष बावू अंगरेजों पर कस कर प्रहार करना चाहते थे और ऐसा प्रहार करना चाहते थे कि फिर सदा के लिए अंगरेजों का गढ़ मिट्टी में मिल जाय। कांग्रेस और सुभाष बावू दोनों ही अंगरेजों की गर्दन दबोचने की बात में सहमत थे, किन्तु कांग्रेस समझौता के द्वारा कुछ प्राप्त करने की धुन में थी और सुभाष बावू

अंगरेजों की छाती पर चढ़ कर सब कुछ छीन लेने की धुन में थे। दोनों के दृष्टिकोण दो विभिन्न दिशाओं की ओर इशारा करते थे। महात्मा जी के प्रभाव में न केवल कांग्रेस थी, वल्कि सारा देश था। अतः सुभाष बाबू के लिए भारत में एक इंच भी ऐसी जगह नहीं थी जहाँ से वे अपने विचारों की घोषणा करते या अपने विचारों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते! सुभाष बाबू के विचार निश्चय ही क्रान्तिकारी थे, जब कि कांग्रेस अपनी निर्धारित नीति का परित्याग करना नहीं चाहती थी।

महात्माजी के बतलाए हुए पथ का त्याग करके कांग्रेस एक दिन के लिए भी अपने को जीवित नहीं रख सकती थी, क्योंकि महात्माजी की निर्धारित नीति का त्याग महात्माजी का त्याग था। अतः इतना भयंकर आघात कांग्रेस सहकर भी जीवित रह सकती थी, इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। महात्मा जी के रिक्त स्थान की पूर्ति करनेवाला कोई दूसरा व्यक्तित्व भी सामने नहीं था। भारत के सभी नेताओं का जितना सम्मिलित प्रभाव हो सकता है उससे सौगुना अधिक प्रभाव महात्मा जी का कांग्रेस पर था। ऐसी स्थिति में सुभाष बाबू को अपने लिए कोई दूसरा कार्यक्षेत्र चुनना पड़ा। कांग्रेस के सभी नेता महात्मा जी के बल से बलवान और तेज से तेजस्वी थे। सुभाष बाबू का भी यही हाल था।

महात्मा जी के प्रभाव को अस्वीकार करके अपने तेज से चमकने की कल्पना शायद ही कोई नेता कर सकता था; फिर सुभाष बाबू सोचने में गलती क्यों करते। उनके हृदय में भी देशप्रेम की ज्वाला भड़क रही थी और उनके भीतर भी क्षमता तथा उमंग का अभाव न था, किन्तु प्रश्न था कार्यक्षेत्र का। भारत का प्रत्येक कोना महात्मा जी के "जयजयकार" से गूँजता था। उस जयजयकार को कुछ देर के लिए दबा कर अपनी आवाज उठाने की क्षमता शायद ही किसी के कंठ में हो। सुभाष बाबू इस सत्य को समझते थे और उन्होंने एक कमरे में बैठकर अपने भावी कार्यक्रम का एक विधान बनाया और अपने लिए कार्यक्षेत्र का भी चुनाव कर लिया। वे शत्रु देशों (जर्मनी और जापान) से मिल कर और उनसे सहायता प्राप्त करके देश को स्वतन्त्र करने की आशा रखते थे। कल्पना या योजना बुरी न थी, किन्तु इस पथ पर चलते हुए जिन शैतानियों और चालबाजियों का सामना सुभाष बाबू को करना पड़ा उसका परिणाम यह हुआ कि देश को सुभाष बाबू जैसे एक तेजस्वी सेनानी से हाथ धोना पड़ा। क्या यह हानि कुछ कम है? यदि आज वे होते तो हमारा बल और भी बढ़ा होता !!!

एक दिन सारे देश ने अत्यन्त चकित होकर यह संवाद सुना कि अपनी कोठरी से एकाएक सुभाष बाबू

गायब हो गए। यह १९४१ की जनवरी की कहानी है। गुप्तचरों ने जी-तोड़ परिश्रम किया, किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। सुभाष बाबू पेशावर पहुँच गए और वहाँ से पठान के कपड़े पहन कर काबुल! उनके चेहरे पर दाढ़ी मूछों का अभाव तो था ही नहीं—यह तैयारी उन्होंने जेल में रहते समय से ही कर ली थी। लाला उत्तमचन्द नामक एक देशप्रेमी ने उन्हें भारत से बाहर जाने में जान पर खेल कर सहायता दी थी। काबुल से वे सीधे मास्को पहुँचे और वहाँ से नाजी जर्मनी! २६ मार्च को वे नाजी जर्मनी की नगरी बर्लिन में दाखिल हुए जहाँ उनका स्वागत हिटलर, गोयरिंग आदि ने किया। हिटलर से परामर्श कर लेने के बाद सुभाष बाबू ने उन भारतीय सिपाहियों और अफसरों का एक नया संगठन "आजाद-हिन्द-सेना" के नाम से किया जो उन दिनों युद्धबन्दी के रूप में जर्मनी और इटली के कैम्पों में पड़े थे। ३५ हजार सेना उनके हाथ लगी और जर्मन-युद्ध विशारदों ने इस सेना को जर्मनपद्धति से युद्ध-शिक्षा देकर तैयार कर दिया और सुभाष बाबू ने भी युद्ध-विद्या का विधिवत् अध्ययन किया। जर्मनी के ड्रेसडेन नगर में इस आजाद हिन्द सेना ने हिटलर को सलामी दी। सुभाष बाबू और हिटलर इस सलामी में मौजूद थे। हिटलर ने सुभाष बाबू को "स्वतन्त्र-भारत के फ़्हरर"

पद से विभूषित किया। इस सेना के प्रधानाधिकारी हुए—ले० यशवन्त सिंह सिद्धा, शाह तान, ले० जामिल खाँ, ले० गुरुवचन सिंह, ले० अली खाँ, डाक्टर ईशाक, डाक्टर पाटनकर और गुरुमुख सिंह।

सरदार निरंजन सिंह ने इटली में आजाद हिन्द सेना का संगठन किया क्योंकि बहुत से भारतीय सिपाही इटली में भी बन्दी थे। इस तरह आजाद हिन्द सेना का निर्माण हुआ। सुभाष बाबू को विश्वास था कि वे इस पद्धति के अनुसार भारत को स्वतंत्र कर सकेंगे। प्रथम महायुद्ध में भारत को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु वह इतने बड़े पैमाने पर नहीं था। अस्त्रों से भरे हुए जहाज भारत लाने की चेष्टा की गई थी और ऐसी व्यवस्था की गई थी कि इन अस्त्रों की सहायता से भयंकर विप्लव का सूत्रपात किया जाय और ऐसी मार-काट की जाय कि अंगरेज या तो भारत से भाग खड़े हों या इसे आजाद कर देने की घोषणा कर दें। वह प्रयत्न विफल हुआ था किन्तु भारत के बाहर इतनी बड़ी सेना का संगठन करके देशोद्धार का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। सिपाही-विद्रोह का रूप दूसरा था और आजाद हिन्द सेना का दूसरा। वह सिपाही-विद्रोह था और यह विद्रोही सिपाहियों का एक संगठन के भीतर रह कर युद्ध करना।

जापान की एक झलक भी दे देना उचित होगा क्योंकि वहीं से आजाद हिन्द सेना ने भारत की ओर मार्च किया था जिनका नारा था—"दिल्ली चलो।"

१९४१ का अन्त हो रहा था। जापानियों ने मलाया पर अधिकार नहीं किया था। मलाया में सात लाख भारतीय रहते थे। अपनी आदत के अनुसार अंगरेजों ने इन भारतीयों के प्रति अत्यन्त अनादर का व्यवहार आरंभ से ही किया था। वे भारतीय थे और भारत में अंगरेजों के चमत्कार देख चुके थे। मलाया में रहते हुए भी वेचारों को सुख की नींद सोने का अवसर अंगरेजों ने नहीं दिया। अंगरेज किसी भी गैर-अंगरेज को मानव क्या, कुत्ता समझने को भी कभी तैयार नहीं रहते। मलायावासी सात लाख भारतीय अंगरेजों के व्यवहार से अत्यन्त रुष्ट हो गए थे। वे फूटी आँखों से भी अंगरेजों को देखना पसन्द नहीं करते थे, किन्तु लाचारी थी। जव अंगरेज मलाया में जापानी सिपाहियों के सामने टिक न सके तो उनके साथ जनता न थी—न तो मलाया-निवासी और न भारतीय कोई भी नहीं। उन क्षेत्रों में लड़नेवाली भारतीय सेना भी अपने अंगरेज अफसरों से व्यग्र रहती थी। अंगरेजी फौज के साथ अंगरेज अफसरों का व्यवहार पक्षपातपूर्ण था तथा भारतीय सिपाहियों को वे वलि का वकरा समझ कर

जापानी तोपों के सामने उन्हें झोंका करते थे।

जापानियों के गोला-बारूद घटाने के लिए भारतीय सिपाहियों को पहले मोर्चे पर झोंका जाता था। भारतीय फौजों का उपयोग अंग्रेज अफसर अंग्रेज-फौज की रक्षा के लिए दीवार के रूप में करते थे और इस तरह अभागे भारतीय सिपाही जापानी तोपों की खुराक बनाए जाते थे। इनका निर्दय तथा बर्बर उपयोग अंग्रेज करते थे। भारतीय सिपाहियों ने जब समझ लिया कि वे बलि के बकरा मात्र हैं तो उनका हृदय प्रतिहिंसा की आग से जल-भुन कर कबाब बन गया। एक बात यह भी थी कि भारतीय सेना का विश्वास भी अंगरेज अफसर नहीं करते थे और न इसे अस्त्रशस्त्र या पर्याप्त आराम भी दिया जाता था। जापानी सेना का एक जोरदार हमला हुआ और अंगरेजी सेना को सकुशल लेकर अंगरेज अफसर भाग खड़े हुए। वे इस तरह भाग जाने को वीरता का एक अंग मानते हैं और इसी समयोपयोगी वीरता का परिचय अंगरेज अफसरों ने मलाया के युद्ध में दिया। १५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर के पतन के बाद साठ हजार भारतीय सैनिकों को जापानियों की दया पर छोड़कर अंगरेज अफसर सब कुछ उठाकर अपनी गोरी सेना के साथ भाग खड़े हुए। बेचारे भारतीय सिपाही दोनों हाथ उठाये जापानी तोपों के सामने आत्मसमर्पण करने चले गये।

दूसरा कोई मार्ग भी तो नहीं था। वे पूर्णतः जापानी तोपचियों की दया पर थे। यदि वे तोपची बटन दवा देते तो इन शरणार्थी सिपाहियों का लत्ता-लत्ता उड़ जाता। साठ हजार भारतीय बहादुर जापान के उन कैम्पों में भेज दिए गए जहाँ युद्धवन्दी रक्खे जाते थे। जापान का सेनापति फ्युजिवारा ने १७ फरवरी को सिंगापुर में एक मीटिंग बुलाई। भारतीय सेना के बन्दी अफसर तथा सिंगापुर के वे नागरिक जो अंगरेजों से घिना उठे थे इस सभा में सादर बुलाये गये। फ्युजिवारा ने अपने भाषण में कहा—"यद्यपि भारतीय सेना जापान से लड़ रही है, किन्तु जापान भारत को अपना शत्रु नहीं मानता। जापान जानता है कि भारतीय जापान से लड़ना कभी भी पसन्द नहीं करते, यदि अंगरेज उन्हें वाध्य न करते। पराधीन भारत की मुक्ति के लिए आप प्रयत्न करें तो जापान आपको सहायता देगा।"

फ्युजिवारा के इस भाषण और आश्वासन ने जपान में आजाद हिन्द सेना के संगठन की नींव डाल दी। फ्युजिवारा ने यह भी कहा कि अंगरेजों के बुरे दिन आ गये। आप लोग अस्त्र धारण करके देशोद्धार का प्रयत्न करें। यही समय है जब आप को देशोद्धार के लिए घोर आन्दोलन करना है।

इन खूबसूरत दलीलों ने अपना असर पैदा किया। जो

भारतीय वन्दी थे उनके सामने दो मार्ग थे—पहला यह कि, वे युद्ध समाप्त होने तक युद्ध-वन्दी के रूप में जापानी कैम्पों में पड़े-पड़े सड़ा करें और दूसरा मार्ग था हथियार उठा कर देशोद्धार के लिए लौट पड़ें। दूसरा मार्ग शानदार था—मारे गए तो स्वर्ग और जीवित रहे या विजयी हुए तो देशोद्धार का महान यश। दोनों ही हाथों में लड्डू। सिपाहियों ने हथियार उठा कर भारत की ओर भारत के लिए मार्च करने का ही फैसला किया। यह निर्णय निश्चय ही शानदार था और उस स्थिति की तुलना में जब कि उन्हें वन्दी के रूप में कैम्पों की नरक-यंत्रणा अनिश्चित समय तक सहना पड़ता। अपने अंगरेज-अफसरों के व्यवहारों तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहारों से भारतीय सिपाही अत्यन्त खिन्न थे ही, जपानी जेनरल फ्युजिवारा के आश्वासनों ने उनमें उत्साह का संचार कर दिया।

भारतीय अब सचेत हो गए थे। वे अंगरेजों की तरह जपानियों को भी देश के लिए अपशकुन ही समझते थे। चीन में जापानियों ने जो कुछ किया था उसकी जानकारी इनको थी। अतः उस सभा में भारतीयों ने कोई वचन नहीं दिया और वे फिर से सोच विचार कर अपनी राय देने का वचन देकर चले आए। जापान एक कट्टर साम्राज्य-वादी देश है और वे जानते थे कि "एशिया एशियाइयों के लिए" का नारा बुलन्द करनेवाले इस साम्राज्यवादी देश ने

दुर्बल चीन को निगल जाने में जरा भी कोर-कसर नहीं रखी। भारत को आजाद देखने की लालसा एकाएक जापान के हृदय में कैसे जाग गई यह आश्चर्य की बात थी। किन्तु, भारतीयों ने सोचा कि जापान के इस निश्चय से लाभ उठाना चाहिए और जापान आजाद हिन्द सेना से लाभ उठाने की धुन में था। जापान के चंगुल में फँसे हुए उन भारतीय सिपाहियों और अफसरों का बुरा हाल था। वे संशय संकट में फँस गए थे और इधर जापानी प्रलोभन देने में बाज नहीं आ रहे थे। देशभक्त भारतीयों को यह भय था कि वे कहीं अपनी मातृभूमि का और अहित न कर बैठें; क्योंकि जापान के आश्वासनों को वे संदेहभरी दृष्टि से देख रहे थे। जापान के अपनी सद्भावना का परिचय देने के लिए अपनी ओर से सभी भारतीय सैनिकों को आजाद कर दिया और उन्हें एक भारतीय सैनिक अफसर कप्तान मोहनसिंह के अधीन कर दिया, जो वन्दी होकर आये थे। कप्तान मोहनसिंह अत्यन्त लोकप्रिय अफसर थे और सेना पर उनका बहुत ही प्रभाव था। अपनी लोकप्रियता और संगठन-प्रियता से लाभ उठाकर कप्तान मोहनसिंह ने आजाद हिन्द सेना का तत्काल संगठन कर दिया। ५६ हजार युद्धवन्दियों में से ५० हजार सिपाहियों ने अपने आपको कप्तान मोहनसिंह के हाथों में सौंप दिया। लार्ड हार्डिंग को बम मारकर भागनेवाले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी

रासविहारी बोस ने टोकियो में एक सभा बुलाई। दक्षिण-पूर्वी एशिया के निवासी समस्त भारतीयों के चुने हुए प्रतिनिधियों की इस प्रस्तावित सभा में भारत को स्वतन्त्र करने के लिए लड़ी जानेवाली लड़ाई और दूसरे तरीकों पर गहराई से विचार होना था। २८ से ३० मार्च तक यह सम्मेलन हुआ और सभा के निश्चय के अनुसार "आजाद हिंद संघ" की नींव डाली गई। जापान, मलाया, थाइलैण्ड, बरमा, जावा, सुमात्रा आदि के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सभी भारत को आजाद देखने के लिए व्यग्र थे। किन्तु सभी जापानी साम्राज्यवादी नीति से भी सशंक थे। इस सम्मेलन में निश्चय हुआ कि—भारतपर आक्रमण करनेवाली सेना का संचालन भारतीय अफसर करेंगे। हवाई हमलों के लिए जापान सहायता करेगा किन्तु "आजाद-हिन्द-सेना" की प्रधानता में ही सारी कार्रवाइयाँ होंगी। भारत यदि अंग्रेजों से मुक्त हो गया तो भारतीय अपना शासनविधान स्वयम् बनावेंगे।

इस तरह जापानी प्रभाव से दूर रहकर "आजाद सेना" की स्थापना का प्रयत्न किया गया। किन्तु ज्यों-ज्यों भारतीय जनता में स्वतन्त्रता का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। जापानी अधिकारी व्यग्र होने लगे और वे बगलें झाँकने लगे। बैंकाक का महासम्मेलन १५ से २३ जून

तक हुआ। उसमें यह निश्चय हुआ कि—सामान की मदत जापान से ली जायगी, किन्तु युद्ध का संचालन भारतीय अफसर करेंगे।

जापानी "आजाद हिन्द संगठन" को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। यह स्पष्ट है कि भारत को गुलाम देखकर जापानियों के हृदय में कोई पीड़ा नहीं उत्पन्न हुई थी कि वे उसकी स्वतन्त्रता के लिए अपना धन और सामान स्वाहा करते। जापान की लोलुप दृष्टि भारत की हरी भरी भूमि पर थी और वह इस ताक में था कि अंग्रेजों के हटते ही जापानी झंडा "लाल किले" पर लहराए इसके लिए आजाद हिन्द सेना के नेता तैयार न थे।

जापानियों की बौखलाहट बढ़ने लगी और आजाद हिन्द संगठन को वे बर्बाद करने पर उतारू हो गये। जापानी कमाण्डर ने हुक्म दिया कि—"आजाद हिन्द सेना बर्मा के लिए कूच करे" किन्तु सेना के अधिकारियों ने इसे उचित नहीं समझा। फलतः कैप्टन मोहनसिंह को जापानियों ने गिरफ्तार कर लिया। यह १९४२ की घटना है। गिरफ्तार होते समय मोहनसिंह ने आदेश दिया कि—"देश के कल्याण के लिए आजाद हिन्द सेना को तोड़ दो। जापानी तुम्हारी ही छुरी से तुम्हारा गला काटना चाहते हैं।"

आजाद हिन्द सेना का विघटन हो गया। जब सुभाष

बाबू जर्मनी से जापान आए तो १९४३ के एप्रील में विभिन्न स्थानों के प्रतिनिधियों को बुलाया गया और रासबिहारी घोष ने यह घोषित किया—"सुभाष बाबू अब उनका स्थान ग्रहण करेंगे।"

२ जुलाई को सुभाष बाबू टोकियो से सिंगापुर आए तथा उन्होंने आजाद हिन्द सेना के प्रधान सेनापति का पद स्वीकार कर लिया। इसके बाद से ही आजाद हिन्द सेना का नया अध्याय शुरू हुआ। १५०० अफसर और ५० हजार सुशिक्षित सिपाहियों की यह सेना थी! इस सेना का संगठन पूर्ण था—डाक्टर, इंजीनियर आदि सभी थे तथा कई दलों में सेना सुगठित थी।

२१ अक्तूबर १९४३ को सिंगापुर में सुभाष बाबू ने "आजाद हिन्द सरकार" की स्थापना कर दी जिसके प्रधान वे स्वयम् थे। इस सरकार को जर्मनी, जापान, इटली, बर्मा, मलाया, फिलिपाइन्स, इंडोनेशिया, हिन्द-चीन, मंचूरिया, कोरिया आदि देशों की सरकारों ने वैध स्वीकार कर लिया तथा राजदूतों का आदान प्रदान भी होने लगा। इसी सरकार के सेक्रेटरी-जेनरल और परामर्शदाता हमारे श्री आनन्दमोहन सहाय थे, जिन्होंने आजाद हिन्द सेना के संगठन में तथा सरकार की स्थापना में महत्वपूर्ण योग दिया था! 'जय हिन्द' इस सरकार का राष्ट्रीय नारा था। आजाद हिन्द सरकार

ने अपनी स्थापना के तीसरे दिन याने २४ अक्तूबर १९४३ को ही अमेरिका और इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। "दिल्ली चलो" का नारा लगाकर सेना ने भारत की ओर मार्च करना आरंभ कर दिया। आजाद हिन्द सेना भारत को स्वतन्त्र करने के लिए आगे बढ़ रही थी। उसने जापान की अधीनता एक क्षण के लिए भी स्वीकार करना अपने देश के प्रति गद्दारी समझा। सुभाष बाबू ने देश को जापान के हाथों में नहीं बेचा बल्कि एक बराबरी की सरकार (आजाद हिन्द सरकार) की स्थापना करके उन्होंने जापान से सहायता की माँग की जिसका मूल्य भारत को आजाद करके वे अदा कर देते—उधार सौदा देने की बात थी।

यह बात दूसरी है कि जापानी अपना उल्लू सीधा करना चाहते हों और वे बुरी नीयत से भारत की स्वतन्त्रता का राग अलापते हों। जापान की नीयत कैसी भी हो, किन्तु यह सिद्ध है कि आजाद हिन्द सरकार और उसके नेताओं ने कभी भी अपनी नीयत में विकार उत्पन्न होने नहीं दिया। वे सदा देशभक्त, स्वदेश के प्रति वफादार और ईमानदार बने रहे। जैसी परि-स्थितियों में रह कर "आजाद हिन्द" सरकार ने अपनी महानता को कायम रक्खा उसे हमें भूलना नहीं चाहिए। ४ फरवरी १९४४ को यह सेना आसाम की

हरी-भरी पहाड़ियों पर पहुँची। वहाँ से मणिपुर की राजधानी इम्फाल तक पहुँच कर यह सेना रुक गई—आगे न बढ़ सकी। इसकी विजय-यात्रा का अन्तिम मुकाम 'इम्फाल' ही सिद्ध हुआ। आजाद हिन्द सरकार अपने आप में पूर्ण थी। बैंक आदि की पूर्ण व्यवस्था थी और करोड़ों का मूलधन था। सुभाष बाबू की अपील पर उन प्रवासियों ने, जो अपनी मातृभूमि से अलग होकर बर्मा, मलाया आदि स्थानों में बसे हुए थे, रुपयों का अम्बार लगा दिया। मातृभूमि के प्रति प्रवासी भारतीयों का जितना आकर्षण है उतना शायद ही किसी दूसरे देशवासी में हो। अपनी मातृभूमि के लिए प्रत्येक प्रवासी भारतीय बड़ा-से-बड़ा त्याग करने को तैयार रहता है—चाहे वह सौ-दो-सौ या और अधिक वर्षों से अपने स्वदेश से विलग ही क्यों न रहा हो और कभी यहाँ न भी आया हो। आजाद हिन्द सेना का बल और प्रवासी भारतवासियों का स्वदेश-प्रेम देखकर जापान की नीयत डगमगा उठी और उसने अपने को पीछे हटाना आरंभ किया। ज्यों-ज्यों आजाद हिन्द के सिपाही आगे बढ़ते गए जापानियों ने अपनी सहायता के हाथ की मुट्ठियों को कस कर बाँधने की नीति को अपनाना आरंभ कर दिया। उत्साह, उमंग और स्वदेश-प्रेम कहाँ तक आजाद हिन्द के सिपाहियों को जीवित

रखता। पेट के लिए अन्न, कपड़े, हथियार और दूसरे तरह के साधनों की आवश्यकता थी और इनमें से प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति जापान से ही होने को थी। किन्तु जापान की नीयत बदल गई थी। द्वितीय महा-युद्ध के इतिहास में धोखाधड़ी के अनेक कांड हुए जिनकी संख्या अपरिमित है, किन्तु लड़ने के लिए आगे बढ़ाकर जापान ने जैसा धोखा आजाद हिन्द सेना को दिया वैसा धोखा शायद ही किसी ने किसी को दिया हो। जापान को विश्वास था कि आजाद हिन्द सेना उसकी कठपुतली बन कर आगे बढ़ेगी और इस प्रकार जापान के लिए "तोकियों" से दिल्ली तक का मार्ग आसान हो जायगा। किन्तु, भारतीय गद्दार नहीं होते। आजाद हिन्द सरकार के नेताओं ने सतर्कतापूर्वक अपना अलग संगठन किया तथा उन्होंने जापान से केवल माल लेने भर का ही नाता रक्खा। इसमें संदेह नहीं कि यदि आजाद हिन्द सरकार भारत पर आक्रमण करने का भार अपने ऊपर न ले लेती तो जापानी हवाई जहाज कलकत्ते को या बंगाल को खाक में मिला देते। बंगाल और कलकत्ते को विनाश से बचाने वाली शक्ति आजाद हिन्द सरकार ही थी। भारत में इस बात को छिपाया गया कि आसाम पर आक्रमण करने वाली सेना भारतीय है तथा सुभाष बाबू उसके प्रधान हैं।

भूखों रहकर, फटी वर्दी पहन कर और विना किसी साधन के आजाद हिन्द के सिपाही आसाम तक पहुँच गए तथा अस्त्रवल से नहीं, अपनी देशभक्ति के वल से, अंगरेजों को पीछे खदेड़ते रहे। किन्तु, एक समय ऐसा भी आया जब यह वल भी कारगर न हो सका और सारा किया कराया चौपट हो गया—जापानियों का विश्वासघात आजाद हिन्द सरकार के सिर पर वज्र बन कर गिरा।

इसी समय महायुद्ध ने दूसरी करवट बदली। जर्मनी की हार हो गई और इटली का वधिया भी बैठ गया। परमाणु बम के दो प्रहारों ने जापान का भी लत्ता-लत्ता उड़ा दिया। १५ अगस्त १९४५ को सुभाष बाबू तोकियो जाते हुए घोर संकट में पड़ गए—जापानी हवाई जहाज में आग लग गई और जहाज नीचे गिर गया। सुभाष वाबू भयंकर रूप में आहत हुए और जापान के "ताई होकूर" अस्पताल में वे चल बसे। उनके यशस्वी जीवन पर काल का अन्तिम काला पर्दा सदा के के लिए लटक गया और उसके साथ-ही-साथ भारतोद्धार का एक विराट् सशस्त्र प्रयत्न का भी सदा के लिए अन्त हो गया !!! आजादी के संघर्ष की यह घटा बड़े जोरों से उठी और घुमड़ी, किन्तु कुहरे की तरह विला गई। सागर की एक लहर की तरह यह घटना इधर से आई, उधर चली गई।

सुभाष बाबू के साथ जो युग आया वह उन्हीं के साथ चला गया और अपने पीछे छोड़ गया हजारों आजाद हिन्द सैनिक जो अनाथ, हताश और हत-उद्यम से हो रहे थे। यह सेना फिर अंग्रेजों के हाथों पड़ी और कैद करके भारत लाई गई। इनके बहुत से अफसरों को उसी तरफ खपा दिया गया। जो बचे वे भारत में लाकर कैद किए गए। इस सेना के तीन प्रधान नायकों पर "लाल किले" में मुकदमा चलाया गया। वे छूटे और देश-सेवा में लग गए।

* * * *

श्री आनन्दमोहन सहाय आज उस गौरवमय अतीत के—जिस अतीत को सुभाषचन्द्र बोस ने अपने व्यक्तित्व से चमका दिया था—शेष-प्रदीप हैं जो टिमटिमा रहे हैं। दिन बीत जाते हैं—अच्छे और बुरे दिन भी, किन्तु अपनी याद छोड़ जाते हैं। बीते हुए दिनों की याद को ही हम इतिहास, गौरव-गाथा और कहानियाँ कहते हैं। अतीत की यही सम्पत्ति भविष्य को मिलती है!

सुभाष बाबू आई० सी० एस० की परीक्षा पास करके भारत की भूमि पर कदम रखते ही भारत के हो गये थे और मृत्यु के अंतिम क्षण तक भारत के ही बने रहे। वे धन्य थे! सुभाष बाबू का निर्माण उन तत्वों से हुआ था जिन्हें चूर-चूर भले ही कोई कर डाले किन्तु

पुनः आँच में गलाकर नए साँचे में, नई मूर्ति के रूप में, उन्हें ढाला नहीं जा सकता। सुभाष बाबू का "जय हिन्द" नारा आज हमारा राष्ट्रीय जयघोष है और इस रूप में सुभाष बाबू हमारे साथ हैं और सदा रहेंगे।

---

# प्रलय की चौथी झलक

१९४२ का ८ अगस्त

१९४२ का ८ अगस्त देश के लिए चिरस्मरणीय रहेगा, जिस दिन कांग्रेस ने सब से कड़े रुख का परिचय अंग्रेजों को दिया —"भारत छोड़ो", इसी ८ अगस्त १९४२ का हुंकार है।

*　　*　　*　　*

कांग्रेस में ऐसा भी एक दल नजर आने लगा था जो युद्ध में अंग्रेजों को सहायता करना अपना परम कर्तव्य और उचित समझता था। १९३९ के १ सितम्बर को पोलैंड की रक्षा करने का दम भरता हुआ और प्रजातंत्र की दुहाई देता हुआ इंग्लैंड युद्ध में कूद पड़ा। जर्मन सेना पोलैण्ड की ईंट से ईंट लड़ा रही थी और पोलैण्ड प्रजातन्त्र था। इंग्लैण्ड का यह ज्वलन्त प्रजातन्त्र-स्नेह "घड़ियाल की आंखों के आँसू" जेसे थे। संसार का सब से निर्दय शोषक और कट्टर साम्राज्यवादी प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए युद्ध में उतर रहा है इस समाचार को रेडियो ने बड़े समारोह से सारे संसार में फैलाया। यह घटना १ सितम्बर १९३९ की है।

१४ सितम्बर १९३९ को कांग्रेस-कार्य-कारिणी की

एक बैठक वर्धा में हुई। उस बैठक में एक प्रस्ताव पास करके पूछा गया—"सरकार अपनी नीयत का खुलासा करे। वह प्रजातन्त्र के विस्तार और उसकी रक्षा के लिए लड़ाई में कूद रही है या अपना उल्लू सीधा करने के लिए।" कांग्रेस सरकार से इसलिए उसकी नीयत का स्पष्टीकरण चाहती थी कि उसे अपनी नीति का मार्ग चुनना था। यदि सरकार सचमुच प्रजातंत्र की रक्षा के लिए हथियार उठा रही है तो कांग्रेस का रुख सहयोगात्मक होगा और यदि "मुँह में राम बगल में छूरी" वाली बात हो तो कांग्रेस अपना विरोध प्रगट करे क्योंकि किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में जनतंत्र के लिए जीने वाली कांग्रेस कैसे हाथ बँटा सकती थी। यदि सचमुच ब्रिटेन जनतन्त्रवादी है तो उसे अपने अधिकृत देशों को मुक्त करके अपनी नीयत का प्रमाण देना चाहिए। कांग्रेस क्या, देश का प्रत्येक समझदार व्यक्ति जानता था कि अंग्रेजी सरकार मानवता के लिए अभिशाप है। किन्तु, फिर भी कांग्रेस सरकार के मुँह से ही सच्ची बात उगलवाने के लिए अड़ी हुई थी और सरकार की नीति टालटूल की थी। शब्दजाल और टालटूल साम्राज्यवादी नीति की ढाल है।

सरकारी नीति से अत्यन्त ऊब कर कांग्रेस की २२ अक्तूबर '३९ को वर्धा में बैठक हुई जिस में यह निर्णय

हुआ कि प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमंडल इस्तीफा दे दें। कार्यसमिति के आदेश का पालन किया गया और जितने प्रन्तों में कांग्रेसी शासन था वहाँ अन्धकार छा गया। मंत्री इस्तीफा देकर जनता के साथ अपने-अपने घर चले गए। इस के बाद अंग्रेज गवर्नरों की बन आई। शासन के नाम पर प्रत्येक प्रान्त में एक-एक अच्छा खासा कसाई-खाना खुल गया। कलम का शासन कांग्रेसी मंत्रियों के रहते ही समाप्त हो गया। बन्दूक का शासन तुरंत आरंभ हो गया। प्रत्येक प्रान्त का गवर्नर हिटलर बन कर जनता का गला घोंटने लगा। १९४० के मार्च में रामगढ़ (बिहार) कांग्रेस ने फिर अपनी माँग को दुहराया और उसने यह स्पष्ट कर दिया कि उसे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिए—राष्ट्रीय एकता से सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न।

अंगरेज अपनी कार्यकारिणी, जो दिल्ली में थी, का विस्तार करना तो चाहते थे किन्तु उनकी नीयत बुरे दिनों से किसी तरह त्राण पाना था। वे चाहते थे कि कांग्रेस के नेता कार्यकारिणी में आ जायँ और और युद्ध में हाथ बँटावें। कांग्रेस बिना सौदा पटाए एक कदम भी आगे बढ़ने को तैयार न थी। रामगढ़-कांग्रेस में यह बात और भी साफ हो गई।

इसी बीच हिटलर की तूफानी सेना बेल्जियम पर चढ़ बैठी और उसे हलाल कर दिया। फ्रांस ने भी

अपनी इतिहास-प्रसिद्ध वहादुरी का परिचय दाँत निपोर का दिया। पेरिस की सुन्दर सड़कों पर जर्मन टैंक आराम से चलते-फिरते नजर आने लगे। पेरिस नगर को जर्मन हवाई जहाजों से बचाने के लिए फ्रांस के सपूतों ने पूरे राष्ट्र को ही हिटलर के चरणों पर न्योछावर कर दिया! नाक बचाने के लिए गर्दन कटवा कर जब फ्रांस के देशभक्तों ने संसार को चकित कर दिया तो कांग्रेस के भीतर बेचैनी सी फैल गई। उसने गान्धीजी से कहा—"आप अब विश्राम कीजिए। हमने युद्ध की तटस्थता की नीति का त्याग किया। किसी विशेष स्थिति में हम नाजियों से लड़ेंगे और ब्रिटिश सरकार की सहायता करेंगे।"

कांग्रेस को विश्वास था कि अँगरेज हारने ही वाले हैं और अंगरेजों के हारते ही हिटलर की तलवार भारत की गर्दन पर गिरेगी। अंगरेजों को हारने की स्थिति में देखते ही कांग्रेस के हाथ के तोते उड़ गए। उसने समझा कि अपनी गिरती हुई दशा में अंग्रेजों का दिल कुछ नरम पड़ा होगा और कांग्रेस के सहयोग के लिए वढ़ाए हुए हाथ का आदर वे करेंगे। कांग्रेस को उस समय अपनी भूल का ज्ञान हो गया जब उसके बदले हुए नरम रुख को अंगरेजों ने उपेक्षाभरी आँखों से देखा। यद्यपि रस्सी जल रही थी किन्तु उसकी ऐंठन ज्यों-की-त्यों थी।

अँगरेज चाहते थे कि किसी तरह उछल-कूद कर बुरे दिनों को समाप्त होने दिया जाय। अँगरेज और भी कठोर हो गए थे। "भारतीय मनोवृत्ति और अँगरेजी मनोवृत्ति में यह मौलिक प्रभेद है। एक भारतीय अपनी शेष घड़ी में उदार, नम्र और स्नेहपूर्ण बन जाता है। वह स्नेह और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अपनी प्रत्येक कटुता का त्याग कर देता है जब कि एक अंगरेज अपने अंतिम क्षण में निर्दय और अ-मानवीय विचारोंवाला बन जाता है। उसकी सारी बाह्य-वृत्तियाँ उसके भीतर कठोरतापूर्वक सिमट जाती हैं।" एक आध्यात्मवादी और भौतिकवादी में यही अन्तर है। अंगरेजों ने कांग्रेस के सामने बेईमानी का एक पेटारा उपस्थित कर दिया। अंगरेजों ने "औपनिवेशिक स्वराज्य" की प्रतिज्ञा की और कहा कि युद्ध समाप्त होने के बाद ही यह संभव हो सकता है। अभी आइए, एक "युद्ध-मंत्रणा-परिषद" का गठन करके हम धुरी राष्ट्रों से लड़ें। कांग्रेस को रोटी के बदले में भारी पत्थर देकर अंगरेजों ने अपनी ओर से चुप्पी साध ली। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी जाहिर किया कि—

> "देश की सुख-शान्ति की जवाबदेही ब्रिटिश-सरकार पर है। कांग्रेस को यह उत्तरदायित्व कैसे सौंपा जा सकता है क्योंकि भारत के दूसरे

बड़े-बड़े और मजबूत दल कांग्रेस की हुकूमत मानने से साफ इन्कार कर देंगे।"

यह इशारा मुसलिम लीग की ओर था और इस तरह लीग को उकसाया भी गया कि वह अपनी नाराजी प्रकट कर दे ताकि अंग्रेजों को बहाना मिल जाय। अब कांग्रेस के लिए एक ही मार्ग रह गया और वह था बापू को फिर से देश का भाग्यविधाता स्वीकार करना। गान्धीजी ने १९४० के अक्टूबर से व्यक्तिगत सत्याग्रह का श्रीगणेश कर दिया। ४२ की अगस्त-क्रांति की यह प्रचारात्मक भूमिका थी। गान्धीजी के पसन्द के सत्याग्राही बाजारों में यह नारा लगाते हुए निकलते थे कि—"युद्ध में हम धन-जन से सरकार को मदद नहीं करेंगे।" प्रथम सत्याग्रही थे संत विनोबा भावे। इस सत्याग्रह में २५ हजार के लग-भग सत्याग्रही जेल चले गये। १९४१ में सरकार ने सत्याग्रहियों को रिहा कर दिया, क्योंकि अंग्रेजों के लिए यह वर्ष अत्यन्त नाजुक था। नाजी सिपाही आँधी की तरह एक देश के बाद दूसरे को रौंदते हुए हाहाकार मचा रहे थे। सत्याग्रह स्थगित हो गया तथा फिर कागजी घोड़े दौड़ने लगे। व्यक्तिगत सत्याग्रह ने देश में बेचैनी और रोष की आग भड़का दी थी, किन्तु सरकार अपनी जिद पर अड़ी थी—थान हार जाना चाहती थी, किन्तु एक गज कपड़ा फाड़कर देना उसके लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न था।

जिसके बुरे दिन आ जाते हैं उसकी बुद्धि पर भी पहले वज्रपात होता है। बुद्धि गई नहीं कि सब कुछ गया।

इसके बाद आया विख्यात १६४२ अपने भीतर एक भयंकर क्रान्ति छिपाए। जापानी हमलों ने युद्ध को भारत के निकट पहुँचा दिया और भारत में भी बेचैनी फ़ैल गई। उधर आजाद हिन्द फौज का हुंकार और इधर भारत में अंग्रेजों के प्रति घोर घृणा और रोष।

१९४२ के आरंभ में चीन के एकाधिपति जनरल चांगकाई शेक अपनी विश्वविख्यात पत्नी के साथ भारत आये। इन्होंने नेताओं से खुलकर बातें कीं; किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट से भी चांग ने बातें कीं; किन्तु इंग्लैंड की चर्चिल-सरकार अपनी जड़ता त्यागने को तैयार नहीं हुई। चर्चिल ने अपनी भारत-विरोधी नीति का दामन छोड़ना पसन्द नहीं किया चाहे साम्राज्य रहे या धूल में मिल जाय। ज्यों-ज्यों कॉंग्रेस आगे बढ़ती गई, अंग्रेज पीछे हटते गये और इसका परिणाम हुआ—भारत में रोष का बढ़ता जाना। एक समय ऐसा भी आ गया जब न केवल कांग्रेस का ही, बल्कि जनता का धैर्य भी छूट गया। निराश व्यक्ति शेर से भी भयंकर होता है—वह सब-कुछ कर गुरजने और सहने को तैयार हो जाता है।

१९४२ के २३ मार्च को प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ क्रिप्स दिल्ली

आये। रूस जो पहले जर्मनी के साथ था उसे जर्मनी से ही उलझा देने का यश क्रिप्स ने अर्जन किया था। क्रिप्स ने भारत पहुँचकर विभिन्न राजनीतिक पार्टियों से मिलना आरंभ किया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि उन पार्टियों में जान आ गई। कांग्रेस तो पार्टी नहीं थी, वह तो सारे भारत की ओर से बोलती थी। मुसलिम लीग-जैसी भारत-विरोधी पार्टियों को क्रिप्स ने इतना महत्त्व दे दिया कि उनके भीतर अहंकार के भाव जाग गये। यह पैंतरेबाजी दिखलाकर क्रिप्स ने भारत के विनाश के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया और कांग्रेस के सामने उन्होंने दुनिया भर की उलझनें पैदा कर दीं।

पकिस्तान की नींव भी उन्होंने डाली और वह इस तरह कि जो योजना कांग्रेस के सामने रक्खी उसमें प्रान्तों को यह अधिकार देने की बात थी कि किसी भी प्रान्त को यह अधिकार होगा कि वह संघ में शामिल न होकर जैसा चाहे वैसा ही रहे।

इस तरह क्रिप्स ने मक्खन की छुरी भारत के गले पर फेरने का सफल प्रयत्न किया और एक दिन वे खाली हाथ हवाई जहाज पर चढ़कर लन्दन की ओर उड़ गये। देशी नरेशों को भी क्रिप्स ने तानाशाह का रूप दिया था। यदि क्रिप्स-योजना मान ली जाती तो भारत में एक ही पाकिस्तान नजर नहीं आता—प्रत्येक

शहर और गाँव में पाकिस्तान का एक-एक टुकड़ा होता और फिर जगह-जगह अछूतिस्तान, सिक्खिस्तान, नरेन्द्रिस्तान और न जाने कितने तरह के शैतानों के अड्डे बन जाते। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इस योजना के खोखलेपन को गान्धीजी के सामने रख दिया। राजेन्द्र बाबू ने बापू से कहा कि—"जिन्ना साहब भारत से एक पाकिस्तान काट लेना चाहते हैं, पर क्रिप्स-योजना में अनेक पाकिस्तानों की गुंजाइश करा दी गई है।...हिन्दुस्तान को टुकड़े-टुकड़े कर डालने की यह गर्हित चाल है।" इस चेतावनी के बाद क्रिप्स-योजना का मूल्य रद्दी कागज के एक गंदे टुकड़े से अधिक नहीं रह गया। चर्चिल का यह महादूत विदा तो हो गया; किन्तु विष के बहुत-से बीज वपन करता गया।

इतना हो जाने के बाद गान्धीजी की लेखनी में गर्मी आई। हिमालय गरम हो गया और उसमें से आग की लपटें निकलने लगीं। यह अंग्रेजी-सरकार का ही काम था जिसने गांधीजी के दिमाग को गरम कर दिया वर्ना उस प्रशान्त महासागर में विक्षोभ पैदा करने की ताकत किसी में भी नहीं थी। "हरिजन" में गान्धीजी ने लिखा—

"ब्रिटिश शासकों के ईमानदारी के साथ सदा के लिए बिल्कुल चले जाने के बाद भारत के अनुभवी नेता अपनी

जवाबदेही समझेंगे और उस मौके पर अपने मतभेद भूलकर उन साधनों के सहारे, जिन्हें ब्रिटिश छोड़ जायँगे, कामचलाऊ सरकार का गठन कर लेंगे।"

* * * *

विख्यात "भारत छोड़ो" का नारा इसी लेख से प्रकट हुआ और इस नारे ने कन्याकुमारी से हिमालय और अटक से कटक तक के भारत को उत्तेजित कर दिया। असंख्य कंठों से निकला हुआ यह नारा भगवान् का आदेश बन गया—"भारत छोड़ दो।"

१४ जुलाई को कार्यसमिति की बैठक वर्धा में हुई और उसके बाद ७ अगस्त को बम्बई महानगरी में। अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी ७ अगस्त १९४२ को बैठी और नेहरूजी ने अपना सुप्रसिद्ध प्रस्ताव उपस्थित किया। कार्य-समिति तो ४ अगस्त से ही प्रस्ताव की रूपरेखा तैयार कर रही थी। अगस्त-प्रस्ताव कांग्रेस की विचारधारा का मानो निचोड़ हो। वह प्रस्ताव इतना पूर्ण और स्पष्ट है कि कांग्रेस के विचार साफ-साफ जाहिर हो जाते हैं। प्रस्ताव के अन्तिम पैराग्राफ बहुत ही जोरदार हैं—

(८) कमिटी जनता से अपील करती है कि वह साहस तथा सहिष्णुता का परिचय दे। खतरों और कठिनाइयों का सामना करे और याद रक्खे कि इस आन्दोलन का आधार अहिंसा है। कमिटी का

कहना है कि जब कांग्रेस-संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय और ऊपर से आदेश पाने की संभावना न रहे तब क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी—मोटामोटी जो आदेश मिल गया उसके आधार पर अपना कार्यक्रम आप ठीक करें और काम करते जायँ जब तक भारत आजाद नहीं हो जाता।

(९) अन्त में कमिटी यह स्पष्ट करती है कि जो जन-आन्दोलन होगा उसका लक्ष्य यह नहीं है कि कांग्रेस के हाथों में हुकूमत आ जाय। जब हुकूमत मिलेगी, भारत की सारी जनता को मिलेगी।"

इस प्रस्ताव को सभी सदस्यों ने अत्यन्त जाँच के साथ स्वीकार किया तथा अन्त में गान्धीजी २॥ घंटे तक लगातार बोलते रहे—पहले हिन्दी में और फिर अंग्रेजी में। २४० सदस्यों में से १३ ने प्रस्ताव के विरोध में अपनी राय जाहिर की।

गान्धीजी का भाषण आकाशवाणी की तरह साफ और अत्यन्त प्रभावोत्पादक था—मानों उनके कंठ में बैठकर देश का होनहार बोल रहा हो। उन्होंने अपने भाषण के उपसंहार में कहा—

"अहिंसा को मानते हुए हर आदमी जो चाहे, करने को आजाद । वह हर तरफ जिच पैदा करे, हड़ताल करे, अन्यान्य अहिंसात्मक साधनों को

काम में लावे। सत्याग्रहियों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में पिल पड़ना चाहिए। जीने के लिए नहीं, मरने के लिए। जब लोग मौत का सामना करने के लिए निकल पड़ते हैं तब उनकी कौम मौत से बच जाती है। बस, हमलोग करेंगे या मरेंगे।''

उस दिन अगस्त की ८ तारीख थी। सदस्यों को सूचना मिली कि कल फ़िर बैठक होगी। रात थी। ११ बजने का समय था। यह तय था कि कल झंडा फहराने के बाद गान्धीजी यह आदेश देंगे कि देश को किस पथ पर अग्रसर होना है, आन्दोलन की रूपरेखा कैसी होगी। ९ तारीख की प्रतीक्षा में सब सोये; किन्तु अंग्रेजों की आँखों में नींद नहीं थी। वे नेताओं को पकड़-कर जेलों में बन्द करने की तैयारियों में व्यस्त थे। ९ अगस्त की सुबह ५॥ बजे गान्धीजी पकड़ लिये गये। जब कुछ लोगों ने बापू के साथ जाने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा—"मेरे साथ चलने से तो अच्छा है कि मेरे बतलाये मार्ग पर चलो।"

बापू के साथ जाना बापू के प्रति मिथ्या मोह था, किन्तु बापू के बतलाये मार्ग पर चलना बापू के प्रति सच्चा अनुराग प्रकट करना कहा जा सकता है। किसी भी महात्मा के अनुगमन करने से अच्छा है—अनुकरण करना। अनुकरण करना लोहे के चने चबाना है, इसी-

लिए अनुगमन करके उनके भक्त रस्ते में अपनी भक्ति की रक्षा कर लेते हैं। वापू ने कहा—"मेरे साथ मत चलो, मेरे वतलाये हुए पथ पर चलो।"

एक देवतात्मा ही ऐसा उद्दीप्त संदेश दे सकता है। सभी नेता एक ही चीलझपट्टे में पकड़ लिये गये और इस तरह अंग्रेजों ने ४२ की क्रान्ति को उत्तेजित किया। ९ अगस्त का दिन देश के लिए चिरस्मरणीय रहेगा। उसी दिन सिपाही-विद्रोह से भी भयंकर विद्रोह का आरंभ देश में हुआ और अंग्रेजी राज्य की जड़ सदा के लिए उखड़ गई। जितने नेता एक झपट्टे में पकड़े जा सके वे पकड़ लिये गये और वाकी गायव हो गये; क्योंकि उन्हें तो जनता के साथ क्रान्ति का खेल खेलना था। हाहाकार करती हुई खूनी घटाएँ आकाश में घिर गईं—वम्बई की सड़कें पुलिस, क्रान्तिकारी और लाशों से भर गईं। क्रान्ति की लहर ९ अगस्त को ही सारे भारत में भर गई और जनता ने अपने-आपको उस ज्वाला में झोंक दिया। विहार में यह विस्फोट अत्यन्त भयानक रूप से हुआ। थाना लूटना, लाइन उखाड़ना, पुल तोड़ना और सैनिक ट्रेनों को उलटना रोज का किस्सा वन गया। सरकार ने भी पूरी ताकत लगाकर क्रान्ति का गला दवोचना चाहा; किन्तु उसे विफल होना पड़ा। उन दिनों भारत में अंग्रेज, कनाडियन, अमेरिकन, रूसी सभी

"मित्रदेशों" और उपनिवेशों के सिपाही भरे पड़े थे तथा टैंक, तोपों की भी कमी नहीं थी, हवाई जहाज भी बहुत-से थे। यदि अंग्रेजी और विदेशी सैनिक यहाँ नहीं होते और उन्हें बर्बरता करने की खुली छूट अंग्रेजी सरकार न देती तो ४२ का विद्रोह प्रत्येक अंग्रेज को निगल ही नहीं जाता, आराम से पचा भी जाता। ज्यों-ज्यों क्रांति का रूप उग्र होता गया जनता उसमें अपना सब कुछ स्वाहा करती गई। देश के बहुत-से भाग ऐसे भी थे जहाँ अंग्रेजी सरकार की हुकूमत बिल्कुल ही उठ गई थी और जनता का शासन कायम हो गया था। बलिया के चित्तू पाँड़े का नाम इस क्रान्ति में अमर हो गया जिन्होंने शान्तिपूर्ण तरीके से बलिया दखल कर लिया। १८५७ के सिपाही-विद्रोह के जन्मदाता मंगल पाँड़े के ये वंशधर थे। बिहार—शान्त और नम्र बिहार—ज्वालामुखी के विस्फोटों से भर गया था। गाँव-गाँव से क्रान्ति की ललकार सुन पड़ती थी और मरने की होड़ भी हो गई थी। कितने होनहार नवयुवक अंग्रेज-सिपहियों की गोलियों से, कायरतापूर्ण प्रहारों से, मारे गये—यह बतलाना कठिन ही है। गाँवों को उजाड़ना, लूट, स्त्रियों पर जघन्य अत्याचार और दुधमुहे बच्चों तक का खून कर डालना—गोरे टामियों के लिए मनोरंजन-मात्र था। वे कुत्ते और चूहों की तरह विद्रोहियों का

खून करते फिरते थे, किन्तु क्रान्ति की आग रह-रहकर भभक उठती थी। गाड़ियों का आना-जाना प्रायः बन्द हो गया था और डाक-व्यवस्था भी खटाई में पड़ गई थी। आदलतें बन्द हो गई थीं तथा अंग्रेज बौखला कर बन्दूक लिए दौड़ते फिरते थे। राक्षसतापूर्ण दमन तथा क्रान्ति का हुंकार यही ४२ अगस्त का नज़ारा था। अंग्रेजी हुकूमत के सभी जोड़-बन्द बुरी तरह ढीले पड़ गये थे। अंग्रेज सिपाही गाँवों पर डकैतों की तरह हमले करते थे और आग लगाकर, लूटकर, बलात्कार और गोलियों से गाँव-के-गाँव भूनकर आगे बढ़ जाते थे। टैंक भी काम में लाये जाते थे। पक्के मकानों को तोड़ने-फोड़ने के लिए टैंकों से काम लिया जाता था तथा बख्तरबन्द मोटरगाड़ियों पर से मशीनगनें गरजती थीं। पेड़ों से बाँधकर गोली मार देना, मारते-मारते मार डालना, दोनों पैर दो जीप गाड़ियों में बाँधकर चीर देना, इन गोरों का खेल था। एक भी ऐसा प्रान्त नहीं था जहाँ आग नहीं भड़की और एक भी घर ऐसा नहीं था जिसने क्रान्ति में योग नहीं दिया। पुराने आतंकवादियों ने खुल कर भाग लिया। क्रान्ति के इस भयानक विस्फोट ने विभिन्न राष्ट्रीय विचार वालों में भीतरी एकता पैदा कर दी। किसी दल ने सक्रिय और किसी ने अपनी सहानुभूति के द्वारा ही

साथ दिया। यदि लीग या उसी तरह की दूसरी पार्टियाँ चुप रहीं तो ऐसे अवसर के लिए तटस्थता भी मूल्यवान ही कही जा सकती है। क्रान्ति जब सजग हो जाती है तो देश के चिन्ताशील व्यक्तियों के लिए मध्य का कोई मार्ग नहीं रह जाता—वे क्रान्ति का साथ दें या विरोध करें। किन्तु हमारे यहाँ लीग, हिन्दू-सभा आदि संस्थाओं ने तटस्थ रहकर क्रान्ति को सहायता ही पहुँचाई; क्योंकि इनसे तो विरोध की ही आशा थी। अगस्त-क्रान्ति को किसी तरह का भी विरोध या प्रतिक्रांति का सामना नहीं करना पड़ा। दमन की बात अलग रही। सभी नेता जेलों में बन्द थे। कहीं से कोई आदेश मिलने की आशा नहीं थी, फिर भी जनता पूर्ण सजग थी और गजब के संगठन तथा अनुशासन का परिचय देश ने दिया। साधारण कार्यकर्ता बड़े-बड़े सैनिक जर्नलों की तरह युद्ध का संचालन कर रहे थे और सभी वर्ग के भारतीय जान की बाजी लगाकर अंग्रेजी सरकार की रीढ़ तोड़ डालने के लिए उद्यत थे। क्रान्ति ने एकता, त्याग और बन्धुत्व की अत्यन्त प्रभावशाली भावना जन-मन में पैदा कर दी थी।

क्रान्ति की आँच में तपकर देश सोने की तरह शुद्ध हो गया था तथा शान्तिकालीन सभी विविधताओं का अन्त हो गया था या वे विविधतायें क्रांति के केन्द्र

में पहुँचकर एकता के रूप में बदल गई थीं। मानवीय दुर्बलताओं का नाश हो गया था और वीरता और धीरता का रूप अत्यन्त उज्ज्वलतापूर्वक स्पष्ट हो गया था। क्रान्ति मानव के भीतर दबी हुई महानता को विकसित करती है और उसकी तुच्छताओं को जलाकर खाक कर डालती है। मानवता का जैसा उदात्त रूप क्रांति-काल में प्रकाश में आता है वैसा रूप शान्तिकाल में शायद ही नजर आता हो। व्यक्तिगत स्वार्थ और ऐसे स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली हीनताएँ क्रांतिकाल में खाक हो जाती हैं। जब क्रांति का वेग बढ़ता है तो व्यष्टि समष्टि के रूप में परिणत हो जाता है— सब सबके लिए जीता और मरता है। न तो कोई अलग सुख रह जाता है और न दुःख। इस महा-समन्वय का पवित्र दर्शन क्रान्ति के हाहाकार में होता है। यद्यपि मुसलिम लीग कांग्रेस से अलग थी; क्योंकि उसका काम ही प्रतिक्रान्ति पैदा करना था फिर भी उसने ४२ की क्रान्ति में एक तटस्थ दर्शक रहना ही उचित समझा। इस क्रान्ति में मुसलमानों ने यदि भाग भी लिया तो नहीं के बराबर ही—वे चुपचाप देखते रहे। न तो उन्होंने क्रान्ति में भाग लिया और न दमन में। मि० जिना शायद चाहते थे कि अंग्रेजी हुकूमत का नाश हो। यदि वे ऐसा नहीं चाहते और अंग्रेजों को

अपना पक्का साथी मानते तो ४२ में अवश्य उनकी सहायता करते, किन्तु लीग चुपचाप बैठी रही। मि० जिना को यह विश्वास था कि अंग्रेज उनके भी उसी तरह शत्रु हैं जैसे वे कांग्रेस के हैं यद्यपि कांग्रेस की गति रोकने के लिए उनका उपयोग किया जा रहा है और उनकी पीठ ठोंकी जा रही है। मि० जिना सावधान राजनीतिज्ञ थे और सँभलकर चलते थे।

४२ की क्रान्ति भारत-व्यापिनी थी; किन्तु बिहार में क्रान्ति और दमन दोनों की भयंकरता सीमा पार कर गई थी। केवल अपने प्रान्त में करीब २३,८६१ व्यक्ति जेल गये और ५६२ पुलिस और सेना के द्वारा मार डाले गये—शहीद हुए। ८४ जगहों पर गोलियाँ चलाई गई। ८० थानों पर जनता ने पूर्णतः अधिकार कर लिया था और करीब ४२ लाख रुपये जनता से जुर्माने के रूप में सरकार ने वसूल किया। केवल एक प्रान्त का यह किस्सा है और उत्तर-प्रदेश, पंजाब, मध्यप्रान्त, सिन्ध, सीमान्त, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रान्तों में भी ४२ की क्रान्ति का वैसा ही वेग रहा तथा दमन का भी वैसा ही रूप था। सभी प्रान्तों के आँकड़े जमा करने पर एक डरावनी तस्वीर सामने उपस्थित हो जायगी। क्रान्ति की तड़प और दमन की जघन्यता निश्चय ही पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। जब जनता प्रतिशोध

की भावना से पागल हो जाती है तब उसका वेग सँभालना कठिन हो जाता है। निश्चय ही यदि यहाँ विदेशी फौज और शस्त्रास्त्र इतने वड़े पैमाने पर नहीं होते तो ४२ की क्रान्ति अंग्रेजी हुकूमत को ले बीतती; क्योंकि भारतीय सेना और किसी हद्द तक पुलिस और सरकारी अफसरों के भीतर भी क्रान्ति की भावना घर कर गई थी। रूसी क्रान्ति जब फूट पड़ी थी तब उसका सबसे भयंकर विरोध पुलिस ने किया था। पुलिस अपनी नमकहलाली और गद्दारी का परिचय अन्त तक देती रह गई थी। पुलिस का सांस्कृतिक स्तर बहुत ही निम्न होता है और उसे एक प्रकार से "कानून से समर्थित गुंडों का दल" कहा जा सकता है। ४२ की क्रान्ति का सामना भी पुलिस ने अत्यन्त बर्बरता के साथ किया था और कुछ पुलिस-अफसर अपनी बर्बरता के कारण इतने बदनाम हो गये थे कि आजादी मिलने पर जनता उनका मुँह देखना भी पसन्द नहीं करती थी। देश की जागृति का पुलिस सदा विरोधी रही है—उसपर राष्ट्रीयता का कभी कोई भी रंग नहीं चढ़ा। १९४२ का गला घोंटा देश की पुलिस ने और गोरी सेना ने—पुलिस का अत्याचार तथा लूट में प्रधान उत्साह रहा है। लूट-पाट और क्रान्ति के दब जाने पर निरपराधों को पकड़कर रुपये वसूलने में पुलिस ने

विशेष तत्परता का परिचय दिया।

यह अगस्त-क्रान्ति "करो या मरो" के नारे के साथ उठी और दबा दी गई, किन्तु अंग्रेजी सरकार के बन्धन ढीले पड़ गये। जनता में भी जोश भर गया। जनता को अपनी शक्ति का ज्ञान हो गया तथा अंग्रेजी हुकूमत का राक्षसी रूप भी जनता से छिपा नहीं रहा। मखमली दस्ताना उतर जाने से लोहे के पंजे सामने आ गये। बिना नेता के और बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के जनता ने एक भयंकर क्रान्ति का संचालन किया। सभी नेता जेल में बन्द थे और बम्बई के प्रस्ताव का प्रचार भी विधिवत् नहीं किया गया था। फिर भी जनता ने अपना नेतृत्व स्वयम् किया और क्रान्ति का संचालन क्रान्ति के नियमों के अनुसार किया। एक भी ऐसी घटना सुनने में नहीं आई जब आपस में लूटपाट हुई हो या किसी पर किसी ने अत्याचार या दबाव डाला हो। यह बात ५७ के विद्रोह में नहीं थी। बागी सिपाही गाँवों को लूटते थे और इधर-उधर उपद्रव भी करते थे; किन्तु ४२ के क्रान्तिकारी अपूर्व संगठन और संयम का परिचय देते हुए निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते थे और थाना या सब-डिवीजन पर अधिकार कर लेने के बाद उसकी शासन-व्यवस्था करते थे। न्याय और शासन का सुन्दर-से-सुन्दर प्रमाण ४२ की क्रान्ति में मिला है। चोरी

या इस तरह के कुकर्म करनेवालों को वागी-सरकार ने शिक्षा-मूलक दंड देकर अपनी सूझ और दयापूर्ण-कठोरता का उदाहरण उपस्थित किया है।

केवल एक दुर्घटना छीन-झपट की वम्बई में हुई। सड़क पर भीड़ ने एक यूरोपियन महिला का 'वैग' छीन लिया। जब भीड़ का दिमाग ठंडा हुआ तो मेम साहब के घर का पता लगाकर वह बटुआ ज्यों-का-त्यों पहुँचा दिया गया और माफी माँग ली गई। यह है विशुद्ध क्रान्ति की पवित्रता। रूसी क्रान्ति की एक कहानी भी इसी तरह है—रूसी क्रान्ति जब सफल हो गई तो जार का महल जनता को देखने के लिए खोल दिया गया। झुंड-के-झुंड मजदूर, देहाती और शहरी लोग महल को घूम-फिर कर देखने लगे। हफ्तों यही तमाशा रहा, किन्तु महल की छोटी-सी चीज भी चोरी नहीं गई। केवल एक छोटी घड़ी जो जार की टेविल पर पड़ी थी, गायब हो गई। लेनिन ने अत्यन्त दुःख के साथ इसका उल्लेख कई वार किया है। क्रान्ति की उच्चता और पवित्रता के लिए ऐसी छोटी-सी घटना भी कलंक मानी गई है। ४२ की क्रान्ति भी पूरी पवित्रता से आरंभ होकर समाप्त हो गई और ऐसी एक भी घटना इतने वड़े देश में घटित नहीं हुई जिसे स्मरण करके हम लज्जित हों या हमारा सिर झुके। जनता का सांस्कृतिक स्तर कितना ऊँचा था और क्रान्ति ने

उसे कितना ऊपर उठाया—यह बतलाना व्यर्थ है—भारत की भावी संतान जब-जब ४२ की क्रान्ति का इतिहास पढ़ेगी, गर्व में वह आत्म-विभोर हो जायगी। हमने अपने इतिहास की उज्ज्वलता पर धब्बा आने नहीं दिया। सिर दिया पर सार नहीं दिया। क्रान्ति दब गई; किन्तु उसका असर बहुत दूर तक चला गया। कर्म का फल अक्षय होता है।

क्रान्ति कोई दूल्हन नहीं है जो रंगीन चूनरी पहनकर और लजाती हुई आवे। यह महाचंडी है और अपने प्रेमियों के खून से भींगी हुई और लाशों को रौंदती हुई आती है। ४२ की क्रान्ति निश्चय ही भारत के मान को बढ़ानेवाली थी।

—o—

# सशस्त्र विद्रोह पर एक दृष्टि

१६४२ की क्रान्ति के साथ ही क्रान्ति-युग का एक अध्याय समाप्त हो जाता है और इसके कुछ वर्ष बाद भारत स्वतन्त्रता का वरदान पा जाता है।

* * * *

लू-लपट के दिन बीत जाते हैं और आकाश कजरारी घटाओं से भर जाता है। हम जेठ की दोपहरी की याद भूलकर सावन को सलोनी खूबसूरती में खो जाते हैं। इस तरह उन जख्मों की याद धुँधली पड़ती जाती है जो आराम होते जाते हैं—हाँ, जख्मों के चिह्न रहते हैं और कुछ मिट भी जाते हैं। मानव भी कैसा विस्मृतिशील जीव है—हे भगवन्! हम अपनी स्मृति को बीते हुए युग की ओर जाने को यदि बाध्य करें तो हमें तत्काल पता चल जायगा कि हम जिस वातावरण में साँस ले रहे हैं उसमें अतीत की कुछ महक है, ऐसी महक जो हमारी पहचानी हुई है और बहुत दिनों तक उस महक में हम साँस ले चुके हैं।

मुक्ति-पथ पर चलते हुए भारत में जो संघ-बद्ध राजनैतिक आन्दोलन हुए उसके दो युग हैं—प्रथम "सशस्त्र आन्दोलन" और दूसरा "अहिंसात्मक आन्दोलन"। सशस्त्र आन्दोलन

के तीन स्तर हैं। इस परिच्छेद में हम इन्हीं तीनों स्तरों पर विचार करेंगे; क्योंकि अभी तक हमने "अहिंसात्मक आन्दोलन" के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। सशस्त्र आन्दोलन के सम्बन्ध में ही अभी तक इस पुस्तक में लिखा गया है। १९१७ के सितम्बर मास में लेनिन ने लिखा था कि (क्रान्ति में) पूरी विजय तभी प्राप्त हो सकती है जब विद्रोह में सभी क्रान्तिकारी विचार रखनेवालों का स्पष्ट सहयोग हो। यह बात मुख्यतम है। सब लोगों के साथ काम करने पर ही विद्रोह यथेष्ट प्रचंड रूप धारण कर सकता है। विद्रोह की ज्वाला ठीक उसी समय भड़कनी चाहिए जिस समय जनता अपने क्रान्तिकारी जोश में उन्मत्त हो, जिस समय क्रान्ति के विरोधियों और उदासीन रहनेवालों का चित्त डँवाडोल हो। विद्रोह के प्रश्न पर विचार करते समय इन सब बातों को उचित महत्त्व देना चाहिए।

मार्क्स के विचारों के आधार पर लेनिन ने इसके पाँच नियम बनाये हैं। पहला—मार-काट आरंभ हो जाने पर रुकना नहीं चाहिए। मामले को हद तक पहुँचा देना चाहिए; दूसरा—जब क्रान्तिकारी इसके लिए स्थान और समय निश्चित कर लें तो शत्रु से अधिक शक्ति इकट्ठी कर लेनी चाहिए—यदि शत्रु

शक्तिशाली सिद्ध हुआ तो परिणाम उलटा होगा ।

तीसरा कारण यह है कि—मार-काट आरंभ होते ही पूरी शक्ति उसमें झोंक देनी चाहिए। शत्रु को आक्रमण करने का अवसर नहीं देना चाहिए। वह सदा रक्षात्मक दिशा में ही फँसा रहे; चौथा—शत्रु को यह पता कभी भी न चले कि कब, किस ओर से, किस पैमाने पर उसपर आक्रमण होनेवाला है। आक्रमण ऐसे समय होना चाहिए जब शत्रु की शक्ति बिखरी हुई हो और पाँचवाँ सिद्धान्त यह है कि—नैतिक दृष्टि से अपनी स्थिति शत्रु से ऊँची रखनी चाहिए। सत्य सदा अपने हित में ही रहे। क्रान्ति-क्षेत्र चाहे कितना भी संकीर्ण क्यों न हो, हमको सदा ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक कदम सफलता की ओर ही बढ़ता जाय।

ये साधारण नियम हैं जिन्हें लेनिन ने स्पष्ट किया है। इन नियमों में "आधुनिक अनुभवों की शिक्षा" का समावेश कर देना सर्वथा उचित होगा। जिस राज्य-सत्ता के विरोध में क्रान्ति का श्रीगणेश किया जाय उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालना पहला कर्तव्य होना चाहिये। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए क्रान्ति को सफल बनाने की तीन शर्तें होनी चाहिए। पहली—जनता के हृदय में भ्रान्तिरहित रूप से क्रान्ति के भाव जाग जायँ; दूसरी—परिस्थितियों का उचित उपयोग करने के लिए नेताओं

का पूरा सहयोग हो और तीसरी यह कि साहसी नेताओं की दूरदर्शिता उस क्रान्ति को भटकने से बचाती रहे। क्रान्ति के सम्बन्ध में और बातें भी कही जा सकती हैं; किन्तु साधारणतः इन बातों पर पूरा ध्यान देना आवश्यक है।

इन सारे सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर हम भारत के सशस्त्र आन्दोलनों पर यदि विचार करते हैं तो हमारे सामने उनकी विफलता का प्रत्येक कारण स्पष्ट हो जाता है। जनता अपनी वर्तमान स्थिति से ऊबी और उसने हथियार उठा लिया, इसीका नाम क्रान्ति नहीं है। जनता अपने रोष को दबा नहीं सकी और वह मार-काट पर उतारू हो गई—यह कोई बड़ी बात नहीं है। क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं है--वह तैयारी और योजना से ही होती है और अपने लक्ष्य तक पहुँचती है। अंग्रेज भारत में आये और उन्होंने अपनी धाँधली शुरू कर दी। ज्यों-ज्यों उनकी सत्ता की जड़ जमती गई, वे भारतीय जनता से दूर हटते गये—अन्त में एक साधारण गोरा भी हमारे लिए उतना ही दूर हो गया जितना दूर इंग्लैण्ड का राजा दूर है। अंग्रेजों और भारतीयों का बिल्कुल लगाव नहीं रह गया। इस तरह अंग्रेजों ने अपने-आपको दूर रखकर न केवल भारत का शोषण ही करना आरंभ किया; बल्कि हमारा अपमान भी उन्होंने जी-भर कर लिया।

इन सारी बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों के मन पर आतंक और अपनी श्रेष्ठता का प्रभाव डालने के लिए अंग्रेजों ने यही तरीका अपनाया। रेवरेंड एण्डरसन ने अपनी पुस्तक "इंगलिश इन वेस्टर्न इंडिया" में इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इस पादरी ने लिखा है कि—"ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजों की संख्या-वृद्धि होती गई उनकी नामवरी उस प्रकार नहीं बढ़ती गई। इनमें से अधिकांश जोर-जबर्दस्ती और बेईमानी किया करते थे। हिन्दू और मुसलमान इन्हें गो-भक्षक (Cow-eaters), शराबी, नीच और कमीना ('Vile brutes) समझते थे। अंग्रेजों को लोग इतना नीच समझते थे कि वे अपने मा-बाप को भी धोखा दे सकते हैं [Who would cheat their own fathers]।

यह है अंग्रेजों का एक शब्द-चित्र जिसे एक धार्मिक पादरी ने अठारहवीं शताब्दी में खींचा था, फिर भी वे भारत के निवासियों से घृणा करते रहे और वह भी अपनी गोरी चमड़ी के बल पर। सच पूछा जाय तो भारतीयों को पतित बनाने का काम अंग्रेजों ने ही किया। मि० हाल्ट मैकेंजी ने लिखा है कि—"जिस जिले में हमने जितने अधिक दिनों तक शासन किया वहाँ के निवासी उतने ही अधिक झूठे और मुकद्दमेबाज बन गये। हमने उनके समाज तक की नींव हिला दी और उन्हें पतित बना

डाला।" सर जान शोर, कैप्टन वेस्ट मेटाक आदि ईमानदार अंग्रेज लेखकों का यही मत है, फिर भी अंग्रेज हमें ही पतित कहकर पुकारते रहे। कुछ तो अपने अहंकार से, कुछ घृणा से और कुछ भय से भारत में अंग्रेज कभी भी भारतीयों से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सके। उनकी इस नीति का असर जनचेतना के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। साधारण जनता अत्याचारों से पीड़ित हुई तथा बड़े आदमी अंग्रेजों की इस नीति से अपमानित होकर ऊब गये। महात्माजी जब ट्रांसवाल पहुँचे तो उन्हें पूरा भाड़ा देने पर भी गाड़ी के भीतर नहीं बैठने दिया गया; क्योंकि भीतर गोरे बैठे थे। वे ऊपर कोचवान की बगल में बैठने को बाध्य किये गये और भारत से अंग्रेजों के खदेड़ देने के आन्दोलन की नींव उसी दिन पड़ गई। उसी दिन अंग्रेजों के प्रताप को क्षयी के संहारक कीड़ों ने ग्रस लिया और अन्त में उन्हें गान्धीजी के चरण छूकर यहाँ से विदा होना पड़ा। अंग्रेजों के वे हाथ जो अफ्रिका में गान्धी पर उठे थे, अन्त में उनके चरणों की ओर बढ़े। यह मानवता की विजय है।

* * * *

संसार के शोषितों में स्वतन्त्रता की जो दुर्दमनीय भावना आज पाई जाती है और सम्राज्यवाद का जो दिवाला निकल रहा है उसका एकमात्र कारण साम्राज्य-

वाद का अनियंत्रित शोषण ही है। प्रत्येक नई और क्रान्तिकारी विचारधारा की उत्पत्ति समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति से होती है। उसका आधार पिछले तमाम विचारों और सिद्धान्तों का उस वक्त तक का विकास होता है। सामंती समाज से पैदा हुआ भयंकर शोषण संघर्ष करने के लिए जनता को तैयार कर देता है और जहाँ भी क्रान्ति हुई है उसकी जड़ में जनता की तबाही अवश्य रहती है और भारत में इस तबाही को लानेवाले अंग्रेज ही तो हैं। अंग्रेजों ने भारत में धार्मिक और राजनीतिक पर्दों से ढँके शोषण के स्थान पर खुले, बेशर्म, सीधे और राक्षसी शोषण को लाकर खड़ा कर दिया।

मार्क्स के शब्दों में—"ज्यों-ज्यों इस जुल्मशाही का नग्न रूप स्पष्ट होता जाता है जिसका तमाम उद्देश्य केवल लाभ है, त्यों-त्यों वह और क्षुद्र, घृणित और अरुचिकर होता जाता है।"

भारत में अंग्रेज शोषक बनकर आये और उन्होंने अपनी इस घिनौनी आदत के साँचे में हमें भी ढालना आरंभ किया। यदि वे अपने-जैसे कुछ व्यक्तियों या समाज का निर्माण यहाँ नहीं करते तो उनका समर्थन कौन करता और बिना समर्थन के वे टिक ही कैसे सकते थे। सारे देश को अंग्रेजों ने लूटा, किन्तु कुछ व्यक्तियों

को अपनी लूट का साथी बनाकर उन्हें भी पाप का साथी बना लिया। स्वतन्त्र तथा खुशहाल देहातों को इन शोषकों ने शहरों का गुलाम बना दिया। इस तरह उत्पादन के साधनों, सम्पत्ति और जनसंख्या के बिखरन और खंडीकरण को पूँजीपतिवर्ग खत्म करता जाता है। शहरों का विकास हुआ, सम्पत्ति का स्वामित्व कुछ हाथों में आया या कर दिया गया। इसका आवश्यक परिणाम हुआ राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण। इस तरह तोड़-मरोड़कर सम्पन्न भारत को निर्बल बनाया गया, उसके अधिकांश को अत्यधिक दरिद्र और कुछ भाग को अत्यधिक धनी बनाकर और धनीवर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापन करके अंग्रेजों ने यहाँ अपने शासन को स्थिर करने का प्रयत्न किया। धनीवर्ग अंग्रेजों का मुँह जोहनेवाला वर्ग रह गया, क्योंकि शासक तो अंग्रेज ही थे और उन्हीं की दया से धनीवर्ग को जीवित रहना था; क्योंकि उत्पादन की चाभी अंग्रेजों के ही कब्जे में थी। यही कारण है कि यहाँ का धनीवर्ग सदा अंग्रेजी शासन का पालतू बना रहा और उसने कभी भी देश का साथ नहीं दिया— इस वर्ग ने गद्दारी तक की। एक शोषण-प्रधान सरकार पतितों के ही भरोसे पर टिक सकती है और अंग्रेजों ने भारत की संस्कृति का नाश करके यहाँ पतितों की काफी संख्या बढ़ा ली थी—ये पतित उसके पिछलगुए

रहे जो आजतक अंग्रेजों को याद करके रोया करते हैं, यद्यपि देश स्वतंत्र हो गया है। वे ऐसे साँचे में ढाल दिये गये हैं कि अब उनको मौत ही बदल सकती है, समझदारी नहीं।

मध्यवर्ग ही सर्वत्र क्रान्ति करती है; क्योंकि कष्ट भुगतने में यही वर्ग सबसे आगे रहता है। इसी वर्ग की छाती पर शासन का भार लदा होता है और इसी वर्ग से कलाकार, नेता और क्रान्तिकारी भी पैदा होते हैं। धनी इसी वर्ग का धन लेकर अपना 'बैंक बैलेंस' बढ़ाते हैं और सरकार भी इसी वर्ग से मनमाने ढंग से धन वसूलती है। सारा व्यापार इसी वर्ग की क्रयशक्ति पर निर्भर रहता है। सरकार भी इस वर्ग पर कड़ी नजर रखती है और पूँजीपति भी इसी वर्ग की पाकेट पर छापे मारा करते हैं, यद्यपि यही वर्ग देश की जान है और सांस्कृतिक मेरुदंड के रूप में यह वर्ग देश का एक मुख्य अंग है। इतना होते हुए भी इस वर्ग की स्वतन्त्र सत्ता नहीं के बराबर है। (निम्नवर्ग के कुछ लोग ऊपर उठकर और उच्चवर्ग के कुछ लोग नीचे उतरकर जहाँ पर जमा होते हैं, वहीं से मध्यवर्ग की उत्पत्ति होती है, किन्तु राष्ट्र या देश इसी वर्ग से बनता है।) जब किसी देश में कष्टों की बाढ़ आती है— शासन की बुराई या इसी तरह की कोई दूसरी चीज तो, यही वर्ग पिस

जाता है। अंग्रेजी शासन ने इस मध्यवर्ग को पनपने से रोका, रोका ही नहीं, इसे दवाकर बिल्कुल ही बेजान कर दिया। इस वर्ग से क्लर्क आदि पाने भर का ही नाता अंग्रेजी सरकार ने रक्खा और वड़े-वड़े पद उच्च वर्ग के हिस्से में पड़ा। एक उदाहरण देना अच्छा होगा। प्रथम महायुद्ध में इंग्लैंड प्रत्येक दिन १० करोड़ रुपये ४॥ साल तक खर्च करता रहा। यह धन इंग्लैंड की कमाई का था। अपने बिहार-जितना बड़ा देश इंग्लैंड जिसकी आवादी विहार से शायद ही कुछ अधिक हो—इतना धन कहाँ से प्राप्त कर सकता है। भारत के ७ लाख ९१ हजार सिपाही उस युद्ध में जूझते रहे और उनका खर्च भारत के सिर पर लदा रहा। इतना ही नहीं, युद्ध के अन्तिम दौर में भारत के पौने दस लाख सिपाही समुद्र के उस पार गये और लड़ते रहे। सेना में सभी लड़नेवाले नहीं होते। ऐसे लोग भी सेना के विभिन्न अंगों में होते हैं जो और तरह से मदद करते हैं। पहले तो उनकी संख्या ४५ हजार थी; किन्तु ४ लाख २७ हजार और भर्ती करके भेजे गये। इस तरह प्रथम युद्ध में करीव १४॥ लाख भारतीय अंग्रेजों की सहायता करते रहे। फ्रांस में जर्मन सेना की वाढ़ इस भारतीय सेना ने रोकी। यदि भारतीय सेना नहीं होती तो प्रथम युद्ध का इतिहास दूसरी तरह लिखा जाता और नक्शे

पर से इग्लैंड का नाम-निशान मिट गया होता।

कहने का तात्पर्य यह कि भयानक शोषण और कठोर शासन ने भारतीयों के हृदय को खोखला दिया और वे मारने-मरने को उतारू हो गये। इधर पर्दे के पीछे शोषण का कारोबार चलता रहा। मि० डिगवी नामक एक प्रसिद्ध अर्थ-विशेषज्ञ ने अंग्रेजों के द्वारा होनेवाले शोषण को देखकर कहा है कि—

"India is not far from collapse"

अर्थात्—भारत का सर्वनाश होने में अब विलम्ब नहीं है। डिगवी के इस कथन की पुष्टि "दि एक्सपेंशन ऑफ इंग्लैंड" नामक पुस्तक में सर जान सिली ने की है। वे इस पुस्तक [ pp. 227 34 ] में लिखते हैं—"भारत में यदि जातीयता का उदय हुआ तो हमारे मालिक भाग्यवान हैं। हमने भारत का राज्य तलवार से प्राप्त नहीं किया। यदि हमने विजेता के समान वहाँ दंड देना आरंभ किया तो हमारा जितना धन खर्च होगा उसी से हमारा सर्वनाश निश्चित है।"

जिस जातीयता के उदय का भय सर जान सिली को था वह जातीयता कभी भारत में मरी नहीं थी—हाँ, दबी हुई अवश्य थी। १९०६ में जब दादाभाई ने भारत में स्वराज्य-प्रतिष्ठा-विषयक प्रस्ताव उपस्थित किया तब यहाँ के गोरा अखबार "इङ्गलिश मैन" को भविष्य सूझने लगा

था। उसने लिखा था कि—

"भारत में आजकल राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन का जैसा गोलमाल देखा जा रहा है, उससे यह निश्चय है कि उसी के भीतर से एक युक्ति-संगत आदर्श प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा।....... भारतवर्ष में वर्तमान शासनपद्धति और अधिक दिनों तक टिक न सकेगी।"

शासन की भयंकरता और अमानुषिकता ने उन सारी संभावनाओं को बल प्रदान किया था जिनके आधार पर जनशक्ति जाग उठती है। खिन्न और व्यग्र भारत के सामने एक ही उपाय था और वह था "शस्त्र"। कोई दूसरा कार्यक्रम न था और जैसा कि इतिहास से पता चलता है कि शासन-प्रणालियों का अन्त हथियार से ही हुआ है, भारतीयों ने भी हथियार का ही आश्रय ग्रहण किया, किन्तु इस क्रान्ति का व्यापक तथा सुगठित रूप कभी भी नहीं बन सका और यही कारण है कि सशस्त्र क्रान्ति बराबर दबाई गई। जोशीले नौजवानों के बलिदानों ने जनचेतना को उत्तेजित अवश्य किया; किन्तु केवल वातावरण में सनसनी फैला देने के अतिरिक्त सशस्त्र-क्रान्ति के द्वारा कोई बड़ा काम न हो सका।

सैकड़ों साल से रगों में जो खून जमा हुआ था उसे सशस्त्र क्रांति ने गरम कर दिया और इस काम को हम

छोटा नहीं कह सकते। क्रान्ति के आदर्शों और सिद्धांतों के आधार पर क्रांति का संगठन भारत में कभी नहीं हुआ। १८५७ से लेकर १९४२ तक की सभी क्रान्तियों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। बंगाल में या पंजाब में क्रान्तिकारी घटनायें होती रहीं और जनता इन घटनाओं को "जोशीले नवयुवकों की बहादुरी" के रूप में जानती रही। जनता ने यही समझा कि कुछ नवजवान अपनी जान पर खेलकर अत्याचारी अंग्रेजों को मार डालते हैं—बस! इस तरह इन हत्याओं का महत्त्व छोटी-सी सीमा में ही दबा रह गया—इस बम के धड़ाके को "सत्ता" के विरोध में होनेवाला धड़ाका जनता ने कभी स्वीकार नहीं किया। जनता को क्रांति की शिक्षा भी नहीं दी गई थी। बंगाल के पुलिस-कमिश्नर टैगर्ट पर कई हमले किये गये। कहा गया—यह टैगर्ट बड़ा जुल्मी था। साउंडर्स को भगत सिंह ने मार गिराया—कहा गया—इसने पंजाब-केशरी लाला-लाजपतराय पर प्रहार किया था जिससे आगे चलकर उनकी मृत्यु भी हो गई। इसी तरह दूसरी घटनाओं का भी रूप स्वीकार किया गया। जनता ऐसे साहसियों का आदर करती रही; किन्तु उसने यह कभी नहीं सोचा कि—ये सारे काम सत्ता के विरोध में किये जा रहे हैं और भारत की गुलामी के बन्धन काटे जा रहे हैं। इन

प्रयत्नों को अंग्रेजों—समस्त अंग्रेजों—के विरोध में भी नहीं स्वीकार किया गया; क्योंकि सभी अंग्रेज शान से बाजारों में घूमा करते थे; किन्तु जो सरकार के पदों पर थे और जिनका शासन से सीधा सम्बन्ध था वे ही सतर्क रहते थे। क्रान्तिकारी या आतंकवादी कार्यों के दो उद्देश्य जाहिर होते हैं—पहला यह कि अंग्रेजों में आतंक उत्पन्न करना और दूसरा—बदला लेना। यह बात स्पष्ट है कि साधारण जनता को क्रांति के लिए कभी भी तैयार नहीं किया गया। १८५७ के सिपाही—विद्रोह के बाद हमारे यहाँ जो क्रांतिकारी कार्य हुए उनका एक आभास हम दे रहे हैं। यह एक विचित्र बात है। जनता को क्रान्ति का बोध जब तक नहीं होगा तब तक कोई भी क्रांति कुछ गिने-चुने बहादुरों के बलिदानों से ही कैसे पूर्ण हो सकती है। जनता जब क्रांति के तत्त्व समझ जाती है तब वह तैयार होकर अवसर की प्रतीक्षा करती है। क्रान्ति के कार्यकर्ता जैसे ही "धड़ाका" करते हैं, जनता उस महाज्वाला में कूद पड़ती है और शासन का लत्ता-लत्ता उड़ जाता है। भारत में कोई ऐसी बात न थी। हाँ, यह बात अवश्य है कि अंग्रेजों के उत्पीड़नों और क्रान्तिकारियों के बलिदानों ने जनता में व्यग्रता का संचार कर दिया। जनता के सामने उसकी स्थिति स्पष्ट हो गई तथा अंग्रेजों के प्रति घोर घृणा का संचार हुआ। अंग्रेजों ने इस

घृणा को शान्त करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया, वल्कि उन्होंने तानाशाही का प्रसार करके उसे दवा देना चाहा। दवने के बदले में भीतर-ही-भीतर वह और फैलने लगी, उग्र होती गई। अंग्रेज एक ओर तो कानून-पर-कानून गढ़कर घृणा को दवाने का कार्य करते गये, दूसरी ओर उन तत्वों को वढ़ावा देते गये जो देश-हित के विरोधी थे। जातीयता—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अछूत, जमीन्दार, पूँजीपति आदि विकारों—को उकसाकर अंग्रेज भारत की एकता का खंड-खंड करके उसे कमजोर वनाना चाहते थे और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली। प्रत्येक वर्ग अपना उल्लू सीधा करने की धुन में दूसरे वर्ग का शत्रु वनता गया। यह खेल अंग्रेज खुलकर खेलते रहे। भारत के भीतर अनेक वर्गों और समुदायों की सृष्टि करके अंग्रेज अपने शासन को स्थिर रखना चाहते थे। यह साम्राज्यवादी विष यहाँ खूब फैलाया गया। फिलस्तीन में अरवों और यहूदियों को भिड़ाया गया तथा आयरलैंड में भी अलस्टरवालों को आयरिशों के विरोध में खड़ा किया गया। अमरिकनों को कनाडियनों से अलग करके अंग्रेजों ने जो पाप कमाया था उसकी पुनरावृत्ति भारत में की गई। उसका परिणाम "पाकिस्तान" के रूप में फूट पड़ा। भारत में हिन्दू और मुसलमानों के दंगे तो हर रोज का किस्सा वन गया था। इन दंगों की योजनायें अंग्रेज ही

बनाया करते थे—यह ध्रुव सत्य है। एक उदाहरण हम देना चाहेंगे। युद्ध के दिनों में दंगे क्यों नहीं हुए? प्रथम महायुद्ध समाप्त होते ही विहार में—आरा के पीरों इलाके में भयंकर दंगा हुआ। देशबन्धु दास हिन्दुओं की ओर से पैरवी करने आये थे और द्वितीय महायुद्ध के बाद तो सारा भारत कसाईखाना बन गया। मुसलमानों से हिन्दुओं को लुटवाते-पिटवाते रहना अंग्रेजों की खास नीति रही है। हिन्दू ऊधमी नहीं होते। संगठित रूप से मुसलमान एकाएक हिन्दुओं पर हमला कर देते थे और एक झपट्टे में खून-खच्चर कर डालते थे। जब तक हिन्दू सँभले तब तक पुलिस दौड़ पड़ती थी और मामला सँभल ही नहीं जाता था, बल्कि एकतरफा रह जाता था। अंग्रेजों ने दंगे करवाके हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में वैर पैदा करने का काम, जब तक वे यहाँ रहे, आराम से करते रहे। जाते-जाते अंग्रेजों ने राजाओं को बरगलाया और हिन्दू राजाओं ने तो सरकार का दामन नहीं छोड़ा, किन्तु मुसलमान-नवाबों में कुछ सनक उठे जिनमें जूनागढ़ का छोटा-सा नवाब, किसी हद तक भोपाल का नवाब और हैदराबाद का निजाम ही लिया जा सकता है। इस तरह अंग्रेज यहाँ अपने गुणों के बल पर टिकने की ओर कभी भी नहीं झुके। वे बल या छल से अपनी सत्ता कायम रखने का ही प्रयत्न करते

रहे जिसके दिन लद चुके थे। वे भारत से चले गये; किन्तु उनसे अपनी कटु नीति नहीं बदली गई।

आतंकवादी नीति ने भारत के जीवन में एक चमक पैदा कर दी थी। कशमकश के कारण एक-से-एक त्यागियों का प्रादुर्भाव हुआ और बड़े-बड़े शानदार बलिदान हुए। जनचेतना में गर्मी लाने का काम इन बलिदानों ने किया। नवजवानों में देश के लिए मर-मिटने की भावना ने यद्यपि जोर पकड़ा; किन्तु जन-संगठन तथा प्रभावशाली कार्यक्रम न रहने के कारण उस भावना का व्यापक प्रभाव न हो सका और जहाँ-तहाँ बम फटने या किसी-किसी अंग्रेज पर गोली दाग देने तक ही वह सीमित रही। फिर भी यह मानना पड़ता है कि अस्त्र-बल से अंग्रेजों का सामना करने का अपना एक इतिहास है। यह प्रयत्न अन्तिम तथा जोरदार रूप में तब प्रकट हुआ जब आजाद-हिन्द-सेना मार्च करती हुई आसाम की पहाड़ियों तक चली आई। यह शायद तलवार के जोर से देश को स्वतन्त्र करने का अन्तिम प्रयत्न था जिसका आदि और अन्त सुभाष बाबू के साथ हो गया। संन्यासी-विद्रोह से लेकर आजाद-हिन्द-सेना तक का इतिहास हमारे सामने है। १७६० से आरंभ करके १९५० तक यह प्रयत्न किसी-न-किसी रूप में चलता रहा। करीब पौने दो सौ साल तक भारत ने खून की होली खेली। हमारे

कितने लाल इस होली में जूझे उनका हिसाब नहीं। इसमें संदेह नहीं कि चुने हुए त्यागी वीर ही अपने को इस महानाश की भट्टी में झोंकते रहे। पौने दो सौ साल तक भारत क्रान्ति के मार्ग पर चलता रहा और अंग्रेजों की नींद-भूख हराम करता रहा। यह भी एक युग था और हमारी स्वतन्त्रता के इतिहास में इसका गौरवपूर्ण स्थान है।

—o—

## और कांग्रेस--?

अब हम कांग्रेस की ओर मुड़ते हैं। कांग्रेस ने कभी भी खुलकर क्रान्ति का समर्थन नहीं किया; किन्तु जब किसी टैगर्ट नामक अंग्रेज को पुलिस-कमिश्नर के धोखे में मार डालने का काम गोपीमोहन शाहा नामक एक नवयुवक या किशोर बंगाली-विद्यार्थी ने किया तो कांग्रेस के मंच पर से एक आवाज आई—"यद्यपि हिंसा का हम समर्थन नहीं करते फिर भी गोपीमोहन की देशभक्ति का आदर करते हैं।"

कुछ इसी तरह की बात कांग्रेस के मंच पर से कही गई। कांग्रेस ने हिंसा का समर्थन नहीं किया; किन्तु जिन वीरों ने अपनी गर्दन फाँसी के फन्दे में फँसाई उनका आदर कांग्रेस सदा करती रही। भगतसिंह को फाँसी के तख्ते पर से उतारने का प्रयत्न देश के सभी नेताओं ने किया और बापू ने भी जोर लगाया। इन सारी बातों से यह सिद्ध होता है कि "गुमराह" नवयुवकों को कांग्रेस प्यार करती थी; किन्तु उनकी ज्वलन्त देश-भक्ति के लिए; बम, तमंचे के लिए नहीं। पूर्ण अहिंसक कांग्रेस भी उन हुतात्माओं का आदर करना न्यायतः उचित समझती रही है जिन्होंने उसके अहिंसा के सिद्धान्त

का उल्लंघन करके हथियार का आश्रय ग्रहण किया था।

इसके वाद महात्मा गांधी आये !

दुवली-पतली देह के भीतर अजेय शक्तियों का भंडार और तेज आँखें, वहुत भीतर तक पैठ जानेवाली। नरम आवाज और उसमें वज्र-जैसा कठोर निश्चय भरा हुआ। शान्ति-दूत की तरह महात्माजी का पदार्पण रंगमंच पर हुआ। सारा देश भगवान् की इस विमल-विभूति को चकित होकर देखने लगा। जादू का-सा खेल था। विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइनस्टीन के शब्दों में—"दो सौ साल वाद शायद ही यह कोई विश्वास करे कि एक दुवले-पतले वूढ़े मानव में इतनी शक्ति का होना संभव है कि वह अजेय ब्रिटिश साम्राज्य को घास-फूस की तरह उखाड़-कर भारत के वाहर फेंक दे।" महात्मा गान्धी पहले विहार के चम्पारन में प्रकट हुए। यों तो दक्षिण अफ्रिका में गोरों के विरोध में उन्होंने जो लोहा लिया था उसकी चर्चा संसार का विषय वन चुका था। शान्ति और अहिंसा को तोपों और वर्वरता के विरोध में लाकर खड़ा कर देने-वाले इतिहास के प्रथम पुरुष के रूप में दुनिया आपको पहचान चुकी थी। चम्पारन में साहवों ने "नील" की खेती के नाम पर जैसी जघन्यता का विस्तार किया था उसका वर्णन भी हम करेंगे। इसी निलहा आन्दोलन के लिए जव वापू विहार आये और राजकुमार मिश्र

नामक एक बिहारी सज्जन गान्धीजी को लखनऊ-कांग्रेस से चम्पारन ले आये तो वह जमाना ही दूसरा था। देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद उन दिनों कलकत्ते में वकालत कर रहे थे और गोखले की "सर्वेंट ऑफ इंडिया सोसाइटी" में जाने की बात सोच रहे थे। अपने अग्रज स्व० महेन्द्र प्रसाद को राजेन्द्र बाबू ने इस सम्बन्ध में एक पत्र भी लिखा था; क्योंकि महेन्द्र बाबू ही राजेन्द्र बाबू के अभिभावक थे। हजारों की भीड़ में से गान्धीजी ने इन्हें चुनकर अलग कर लिया। पुराने नेता तो थे ही, किन्तु गान्धीजी को नये-नये नेता गढ़ने थे। जनसाधारण में से ऐसे लोगों को छाँटकर अलग निकालना था जिनके भीतर ज्योति छिपी हुई हो, ऐसी ज्योति जो आगे चलकर भारत के पथ को अपने प्रकाश से भर दे। गान्धीजी की पहली तेज नजर कलकत्ते के इस बिहारी वकील पर पड़ी जो हमारे महान् राष्ट्र का प्रथम राष्ट्रपति है और जिसने अपनी सरलता, गम्भीरता, साधुता और सेवाओं से सारे भारत को अपना लिया है या सारे भारत ने उसे अपना लिया है। राजेन्द्र बाबू इस तरह खिंचे हुए गान्धीजी के निकट तक चले गये मानों जन्म-जन्मान्तर का कोई सम्बन्ध रहा हो जो एकाएक जाग उठा हो।

गान्धीजी एक तूफान की तरह भारत की राजनीति में आये और आते ही उन्होंने सब-कुछ उलट-पलट दिया।

उन्होंने मानवता के श्रेष्ठतम आदर्शों को जनता के सामने रक्खा और अपने को उपदेशक नहीं, उदाहरण बनाकर सारे देश को अपना भक्त बना लिया। जो गान्धीजी के महान् व्यक्तित्व के दबाव को नहीं सह सके वे अपनी कुर्सी खाली करके चलते बने और उन खाली पड़ी कुर्सियों को दूसरे तेजस्वी नेताओं ने भरना आरंभ कर दिया जिनका निर्माण गान्धीजी करते जा रहे थे। पं० मोतीलालजी नेहरू-जैसे आरामपसंद महामानव गान्धीजी के रंग में रँग गये और देशबन्धु चित्तरंजन दास-जैसे करोड़पति और मेधावी त्यागी बनकर गान्धीजी के साथ हो लिये। देश के किसी कोने से राजगोपालचार्य आये तो किसी कोने से पंजाब-केशरी लाला लाजपत राय। कहने का तात्पर्य यह कि भारत के श्रेष्ठ मानवों की एक भीड़ गान्धीजी के चारों ओर देखते-देखते जमा हो गई। भारत की राजनीति की यह एक जोरदार करवट थी जिसकी कल्पना भी गान्धीजी के आने के पहले किसी ने नहीं की होगी।

गान्धीजी ने आते ही सबको समझा दिया कि तलवार का भरोसा रखना कायरता है। आत्मा का बल और सत्य का तेज ही सब-कुछ है। आसुरी सम्पद् का पूर्ण त्याग और दैवी सम्पद् का पूर्ण ग्रहण ही मानवता का सच्चा विकास है। तलवार की विफलताओं की

कहानियाँ इतिहास के इस छोर से उस छोर तक फैली हुई हैं ; किन्तु आत्म-बल की विफलता का एक भी उदाहरण नहीं दिया जा सकता। एक व्यक्ति जब तलवार लेकर ललकारता हुआ मैदान में उतरता है तो वह दूसरे को चुनौती देता है; किन्तु आत्मबली किसी को चुनौती नहीं देता, किसी भी भावना को नहीं भड़काता, किसी के भीतर दबी हुई पशुता को नहीं छेड़ता; बल्कि स्वर्ग के द्वार खोलता हुआ वह संसार की दग्ध आत्मा को शान्ति पहुँचाता है। हिंसा मानव को चबा जानेवाली एक राक्षसी है जिसने मानवता को कलंकित ही किया है। गान्धीजी अपने इस सिद्धान्त को अपनी धीमी आवाज में गली-गली, गाँव-गाँव, घर-घर फैलाते रहे और उनके पीछे-पीछे चले देश के करोड़-करोड़ मानव। हम संसार के इतिहास के पृष्ठ उलटते हैं तो उसमें बड़े-बड़े सम्राटों, विजयी सेनापतियों के हजार-हजार नाम पढ़ते हैं। इससे पता चलता है कि सम्राटों और सेनापतियों की सदा बहुलता रही है; किन्तु एक भी सेवक का नाम कहीं नहीं मिलता। बुद्ध और ईसा के बाद गान्धीजी का ही नाम हमें मिलता है। सम्राट् और सेनापति होना शायद आसान है; किन्तु सेवक बनना इतना कठिन है कि भगवान् भी ढेरों सेवक बनाकर संसार में भेजने का साहस नहीं करते। सेवाकार्य में ही मानवता का सर्वोच्च प्रदर्शन होता है न कि तलवार के जोर से देश

उजाड़ने में या धरती को लाशों से पाट देने में। गान्धीजी सेवक बनकर आये और उनकी सेवा-वृत्ति को पूर्णता से ग्रहण यदि किसी ने किया तो राजेन्द्र बाबू ने।

निलहा कांड बर्बरता का एक गंदा नमूना है। बहुत-से अंग्रेज व्यापारी चम्पारन में जमा हो गये। राजा साहब पर प्रभाव डालकर उनके मरने के बाद वहाँ के अंग्रेज मैनेजर पर प्रभाव डालकर वहाँ जमीन प्राप्त करने लगे। किसानों से बलपूर्वक उनकी जमीन छीन लेना और लाठी के जोर से पट्टे पर दस्तखत बनवा लेना या अँगूठे का निशान बनवाकर उसकी जमीन दखल कर लेना—अत्यन्त साधारण-सी बात थी। किसान तबाह होते जा रहे थे और ये निलहे अंग्रेज बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनवाकर "नील" की खेती करते जा रहे थे। जिस किसान की जमीन छीनी जाती थी उसे अपनी जमीन पर मजदूरी करनी पड़ती थी। कल जो खुशहाल किसान था वह आज मजदूर बनकर अपनी ही जमीन पर काम करता था। इस घोर अन्याय की कहीं सुनवाई न थी—यह १९१७, १९१८ की घटना है। मार-पीट और जमीन देने से जरा भी आनाकानी करनेवाले किसान पर चोरी, डकैती और खून का झूठा मुकदमा दायर करवाकर उसे बर्बाद कर देना उन अंग्रेजों का काम था जो चम्पारन में नील की खेती किया करते थे। अंग्रेजों की सहायता के

लिए अंग्रेजी सरकार थी, अंग्रेज राज्य-मैनेजर थे, पुलिस थी, हाकिम थे, किन्तु किसानों के लिए केवल भगवान थे। बेतिया ( चम्पारन ) के किसानों की करुण कहानियाँ ऐसी भयंकर है कि लिखते नहीं बनता। अंग्रेजों की शोषण-प्रवृत्ति का जैसा राक्षसी प्रदर्शन चम्पारन में हुआ था वैसा अन्यत्र देखने-सुनने में नहीं आया। चम्पारन की उपजाऊ जमीन का अधिक भाग इन गोरों ने हड़प लिया और सारे जिले को तबाह करके धर दिया। पं० राजकुमारमिश्रजी लखनऊ-कांग्रेस में गये थे। उन्होंने इस दर्द की कहानी को गान्धीजी के कानों तक पहुँचाने का साहस किया। महात्माजी उन दिनों तुरंत ही भारत आये थे और भारत का नेतृत्व श्रीगोखले और लोकमान्य तिलक के हाथों में था। गोखले अत्यधिक नरम और तिलकजी अत्यधिक गरम विचार के नेता थे। महात्माजी ने चम्पारन में पहुँचकर वहाँ की स्थिति का अध्ययन किया और किसानों के बयान लेना भी आरंभ किया। राजेन्द्र बाबू, ब्रजकिशोर बाबू, अनुग्रह बाबू आदि वकीलों ने गान्धीजी को अपनी-अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और किसानों को भरोसा दिया गया कि सही-सही बयान दो, डरो मत। पहले तो साहबों के भय से किसान कुछ भी कहना नहीं चाहते थे; किन्तु गान्धीजी के प्रभाव ने उनके भीतर

भरोसा का संचार किया और वे झुंड-के-झुंड आकर अपनी दुःख-भरी कहानियाँ लिखवाने लगे।

यहीं से भारत की राजनीति में एक नया युग आरंभ हो जाता है। चम्पारन में गान्धीजी का पदार्पण करना भारत की राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। सच पूछा जाय तो यह हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि भारत में जो राजनीतिक चेतना आई और जिसका परिणाम हुआ हमारा गणतंत्र के रूप में संसार के रंग-मंच पर अवतरित होना उसकी नींव बिहार के ही एक भाग—चम्पारन—में पड़ी थी और यहीं से महात्माजी का एक उद्धारक और शान्तिदूत के रूप में उदय हुआ। हिमालय के पड़ोसी चम्पारन का भारत सदा कृतज्ञ रहेगा और रहना भी चाहिए जिसकी भूमि पर महात्मा गान्धी-जैसे युगपुरुष ने अपने आत्मतेज का प्रकाश सबसे पहले फैलाया। यही कारण है कि गान्धीजी 'बिहार' को अपना प्रान्त समझते थे और बिहार भी उन्हें अपना 'बापू' समझता था। बिहार कभी बौद्ध संस्कृति का केन्द्र रहा है और भगवान् बुद्ध का प्यारा प्रान्त। भगवान् बुद्ध की शान्ति और अहिंसा के उपदेशों ने बिहार की संस्कृति में अपना अमिट स्थान बना लिया है। यही कारण है कि महात्माजी ने इसी प्रान्त को अपना सबसे प्यारा प्रान्त माना है; क्योंकि उन्हें अपने

शान्ति और अहिंसा के विचारों को फैलाने में यहाँ जरा-सी भी कठिनाई नहीं हुई। संस्कार बना-बनाया मिला। बिहार की सादगी, इसका सीधापन जिसके प्रतीक हमारे राजेन्द्र बाबू हैं, बुद्ध भगवान् की शिक्षाओं की देन है जो मिटते-मिटते भी किसी-न-किसी रूप में आज तक है। पंजाब और महाराष्ट्र-जैसे प्रान्त पर गान्धीजी की शिक्षाओं का उतना प्रभाव नहीं पड़ा, क्यों कि भगवान् बुद्ध का उतना गहरा प्रभाव उन प्रान्तों पर न था और वहाँ की संस्कृति में शान्ति और अहिंसा को वह स्थान नहीं मिला था। मुसलमानों से झगड़ते रहने के कारण पंजाब का स्वभाव ही कुछ विशेष प्रकार का हो गया था, उसमें लचकीलापन न तब था और न आज है। महाराष्ट्र की भी यही दशा है। बिहार की सादगी और भोलापन ने महात्माजी को मुग्ध कर लिया। महात्माजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप निलहे साहबों ने अपना बोरिया-बधना समेटकर चम्पारन का पिंड छोड़ दिया। आज भारत से अंग्रेज निकल भागे, किन्तु अंग्रेजों को खदेड़ने का पहला प्रयोग बिहार में ही किया गया जो पूर्णतः सफल हुआ और यह सिद्ध हो गया कि पशुबल से आत्मबल श्रेष्ठ होता है। एक छोटे-से मैदान में अंग्रेजों और गान्धीजी के बलाबल की परीक्षा हो गई तथा देश ने देख लिया कि आत्मबल का कितना

प्रभाव होता है। इस सफलता ने गान्धीजी को देश का 'प्यारा' बना दिया और कांग्रेस के मंच पर जब वे फिर आये तो एक विजयी नेता के रूप में आये। दूसरे नेता जो उनकी शान्ति और अहिंसा के तर्क नहीं समझ पाते थे, वे चकित होकर गान्धीजी का मुँह देखने लगे। उस दुर्बल, ठिगने-से व्यक्ति ने देश का विश्वास अनायास ही प्राप्त कर लिया। कांग्रेस में भी एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ और उसका नेतृत्व बिना प्रयास के गान्धीजी के हाथ में चला गया। कुछ कर्मठ नेता गान्धीजी के साथ हो गये और कुर्सी-तोड़ नेता चलते बने—उनके लिए केवल एक ही मार्ग रह गया, कांग्रेस को कोसना !

बंग-भंग-युग के बाद यह कांग्रेस का तीसरा महान् युग आरंभ हुआ। हम ग्रन्थ के आरंभ में यह कह आये हैं कि कांग्रेस के ६२ साल के लम्बे इतिहास को छः भागों में बाँट सकते हैं। आवेदन-निवेदन-युग, बंगभंग-युग आदि के बाद यह तीसरा युग का आरम्भ महात्माजी ने किया। देवता के वरदान की तरह कांग्रेस को यह महापुरुष नेता मिला और वह नये ओज और तेज से आगे बढ़ी। गान्धीजी के नेतृत्व में कांग्रेस आगे बढ़ी तो वह प्रत्येक क्षण बढ़ती ही गई, वह न रुकी और न पीछे हटी।

कुछ आलोचक गान्धीजी को "जन्मजात क्रान्तिकारी"

कहते हैं। उनका यह मत कुछ महत्त्व रखता है। निश्चय ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गान्धीजी ने क्रान्ति की है; किन्तु उनकी क्रान्ति आध्यात्मिक है, निर्माणोन्मुखी है।

यों तो इस्ट इंडिया कम्पनी के समय से ही अंग्रेज शासक भारत पर अत्याचार करते आ रहे हैं; किन्तु जब से यहाँ जनचेतना आरंभ हुई तब से इनकी जघन्यता का अन्त ही नहीं रहा। ज्यों-ज्यों भारत में रोष बढ़ता गया, अंग्रेज नये-नये मनमाने कानून गढ़कर हमें रौंदते गये। अकारण जेल में डाल देना, फाँसी पर लटका देना, कालेपानी भेज देना—साधारण बात थी। बंगाल रेगुलेशन (३) १८१८ के आरंभ में लिखा है कि—

"चूँ कि राष्ट्र की स्थिति के कारण कभी-कभी यह आवश्यकता होती है कि उन व्यक्तियों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाय और उन्हें बन्धन में रक्खा जाय जिनके ऊपर अभियोग चलाने के यथेष्ट प्रमाण न हों या किसी कारण से उनपर अभियोग चलाना उचित या संभव न हो।"

मद्रास रेगुलेशन (२) १९१९ और बम्बई रेगुलेशन (२५) १८२७ का रचनारंभ भी प्रायः इन्हीं शब्दों में हुआ है। इन तीनों रेगुलेशनों में यह भी लिखा है कि—

"केवल गिरफ्तारी के कारण से ही राजनीतिक कैदी गिरफ्तार करके उस प्रान्त के अन्तर्गत किसी भी

स्थान—किला या जेल—में बन्द किया जा सकता है।"

इससे साफ जाहिर है कि गिरफ्तार व्यक्ति को अपने छुटकारे का कोई यत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि कोई स्पष्ट आरोप उसपर नहीं है। सरकार अपने मन से पकड़ती है तो अपने मन से ही छोड़ेगी। यह कानून है या फाँसी का फन्दा जो मरने पर ही गरदन से अलग होता है, यों नहीं। इन तानाशाही कानूनों ने भारत के जीवन को खतरे में डाल दिया। न केवल भारत में ही अंग्रेज भारतीयों के साथ अन्याय करते थे, बल्कि देश के बाहर भी हम लुटे-पीटे जाते थे। जहाँ-कहीं भी गोरी चमड़ी का सामना हुआ, हमें नीचा देखना पड़ा। अपमान सहना और अन्याय सहना हमारा मानो जन्मसिद्ध अधिकार हो गया था। लोकमान्य तिलक ने कहा है—कि "अभी तक मैं यही समझता था कि केवल भारत में ही भारतीयों के साथ अन्याय किया जाता है; पर अब मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है कि विलायत ( इग्लैंड ) में भी भारतीयों के साथ न्याय नहीं किया जाता।" इतना ही नहीं, और भी बहुत-से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजों ने भारत पर दुश्मन की तरह शासन किया। समझ में नहीं आता कि भारत से उनका कब

का वैर था जो यहाँ पदार्पण करते ही गोरों ने अन्याय और अत्याचार का ही शासन आरंभ कर दिया।

७ फरवरी १९१९ को अंग्रेजी सरकार ने रौलटएक्ट पास कर दिया। सारा देश विरोध करता रहा, चीखता-चिल्लाता रहा, किन्तु अंग्रेजों ने सुनी अनसुनी करके इस खूनी कानून को एक साँस में पास करके अपनी बर्बर प्रवृत्ति का घृणित नमूना हमारे सामने पेश कर दिया। उन दिनों लोकमान्य तिलक लन्दन गये हुए थे। वे प्रायः ४/५ महीनों से बाहर थे। उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने रौलटएक्ट को पास कर दिया। महात्मा गान्धी यहाँ थे और उन्होंने अभी स्थिति का पूरा अध्ययन नहीं किया था। चम्पारन के नीलहा आन्दोलन का संचालन उन्होंने किया था और इतने ही से जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त हुआ था। भारत के नेता थे तिलकजी और उनकी गैरहाजिरी में कोई बड़ा कदम खतरे से खाली न था; किन्तु महात्माजी ने नेतृत्व का भार सँभाला। सारे भारत के प्रश्न को लेकर महात्माजी पहली बार जनता के सामने आये। देश का नेतृत्व सँभालते समय गान्धीजी ने कहा था कि—"इस समय हमारे पूज्य नेता लोकमान्य विलायत में हैं—हमसे हजारों मील दूर पर बैठे हैं। देश में ऐसा कोई नहीं जो हमारे भले-बुरे कामों का निरीक्षण करे। इस

समय हमलोगों को सोच-समझकर कदम बढ़ाना चाहिए।"

अंग्रेजों के गढ़े हुए सभी अन्यायपूर्ण कानूनों को भंग करने की योजना गान्धीजी ने देश के सामने रक्खी और वह सोच्छ्वास स्वीकार कर ली गई। ६ एप्रिल १९१९ को सत्याग्रह का दिन निश्चित किया गया। भारत के लिए सत्याग्रह का प्रयोग बिल्कुल ही नया था। भौतिक बल का भरोसा बहुत दिनों तक भारत ने किया था—बम, तमंचे का सहारा बहुत दिनों तक भारत को था, किन्तु आग से आग नहीं ठंढी होती—वैर से वैर नहीं चुकता। भारत संसार में 'दार्शनिक' के नाम से विख्यात है। ठीक इसके विपरीत यहाँ जब बम के धड़ाके होने लगे, तो यह आप ही आप सिद्ध होगया कि भारत अपने उच्च आदर्शों से खिसक गया है। आत्मबल का बली देश अपनी महत्ता भूलकर तुच्छ साधनों को महत्व दे—यह सरासर पतन ही तो है। बृहस्पति, कपिल, शंकर जैसे आत्म-तत्त्ववेत्ताओं का यह देश निश्चय ही गुमराह हो रहा था, जब इसने बम का आश्रय ग्रहण किया था। किन्तु यह बात मार्के की है कि भारत के संस्कार में हिंसा का स्थान स्वभाव से ही नहीं है। इसे बेतरह उभा कर इससे खून-खच्चर करवाया गया और उभा डालने का काम किया अंग्रेजी सरकार ने। महात्माजी के मुँह से जैसे ही

'अहिंसा' शब्द निकला भारत चौंक उठा—मानो कोई भूली हुई स्मृति एकाएक आत्मा के सामने चमक उठी। विना किसी तर्क-दलील के सारा देश महात्माजी को घेर कर खड़ा हो गया। भारत की जगह पर यदि कोई अन्य देश होता तो दो चार सौ साल महात्माजी को अहिंसा के तत्त्व समझाने में लग जाते। भगवान् बुद्ध ने सारे भारत को अहिंसा का तत्त्व अच्छी तरह समझा दिया था और उनके उपदेश अभी तक परम्परा से हमारे संस्कार के साथ चले आ रहे हैं। संसार के दूसरे देशों का यह किस्सा है कि वहाँ मानवता का चरम विकास "दानवता" है, जैसे हिटलर, मुसोलिनी; किन्तु भारत का रंग ही अपना रहा है—यहाँ मानवता का चरम विकास देवत्व है, जैसे बुद्ध, गान्धी! जिस देश ने जीवन का अर्थ इतने विकसित पैमाने पर किया है वह तुच्छ हिंसा का समर्थन करे, यह कैसे संभव हो सकता है। महात्मजी ने जैसे ही भारत को उसका सत्य-रूप दिखला दिया तैसे ही उसने महात्माजी को पहचान लिया—भारत को महात्माजी ने पहचाना और भारत ने महात्माजी को। दोनों एक दूसरे में मिलकर एकाकार हो गए। भारत और महात्मा जी के बीच में कोई विभाजन रेखा नहीं रह गई और ऐसा जान पड़ता था कि भारत मन-ही-मन किसी देवतात्मा के पधारने का आभास पाता था, किन्तु वह उस उद्धारक

को ढूँढ़ नहीं पाता था। एक दिन ऐसा हुआ जब वह अपनी पतली टाँगों से चलता हुआ चम्पारन के एक गाँव में पहुँचा और देश चिल्ला उठा—"यह वही है!"

१९१९ जब सत्याग्रह का समय ६ एप्रील निश्चित हो गया तो तदनुसार एक दिन व्रत रखकर ईश-वन्दना करने की भी घोषणा की गई। इस ६ एप्रील को देश में ऐसी शान्त और व्यापक हड़ताल हुई कि उसकी शान देखते ही बनती थी। ट्रेनें तक बन्द हो गईं और भारत का सारा कारोबार ठप्प हो गया; किन्तु कहीं हलचल नहीं, अशान्ति नहीं। सर्वत्र गम्भीर शान्ति और ऐसा जान पड़ता था कि मानों सारा देश किसी बहुत बड़े काम के लिए आज निश्चय कर रहा हो। ईश-वन्दना तो सर्वत्र हुई, किन्तु देश की आवाज को भगवान् तक पहुँचाने का श्रेय पंजाब को ही प्राप्त हुआ और माइकेल ओडायर, जेनरल डायर तथा लार्ड कर्जन इन्हीं तीनों महानुभावों ने वह-वह करिश्मे कर दिखलाए कि आज हम "गणतंत्र-भारत" में बैठकर इन पंक्तियों को लिख रहे हैं। पंजाब का कुख्यात हत्याकांड—जिसने सारे देश को एकाएक उठा कर खड़ा कर दिया—इन्हीं तीनों अंग्रेजों की देन है। गान्धीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन का स्वागत किया अंग्रेजों ने मेशीनगन की सनसनाती गोलियों से—बेचारों के पास दूसरा कोई उपाय भी तो न था। बेईमानी

करना और गोलियाँ चलाना—बस !!!

मृत्यु से जो डरा करते हैं उन्हें ही समय-असमय में मौत धर दबोचती है। मौत से हम निडर हुए, न कि मौत खुद मरी—कायरों के लिए मौत है और वीरों के लिए मुक्ति! कायर की दृष्टि में मौत बड़ी डरावनी होती है और वीरों की मुक्ति अत्यन्त खूबसूरत! जिसका जीवन महानता को लक्ष्य बना कर व्यतीत होता है वह मृत्युंजय है और यही मंत्र गान्धीजी ने भारत के जन-जन के कानों में फूँक दिया। भय से छुटकारा मिलते ही मानव मृत्युंजय बन जाता है। भय एक ऐसा रोग है जो मानवता को दबोच कर बेकार किए रहता है और अंग्रेजों ने इसी रोग का प्रसार संक्रामक रूप में कर दिया था। कुछ तो क्रान्तिकारियों ने और पूर्ण रूप से महात्माजी ने देश को इस महारोग से मुक्त कर दिया। हँसते-हँसते गोलियों का निशाना बननेवालों की टोलियाँ गाँव-गाँव से निकलने लगीं। देखते-देखते सारा देश मैदान में उतर पड़ा। जो अपना भय नहीं मिटा सके वे मौत की प्रतीक्षा में पड़े-पड़े कराहते रहे। मिथ्या भय और आतंक का राज्य धीरे-धीरे विलीन होता गया। जनता को उसी शक्ति का बोध कराना और उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना नेता का प्रथम गुण होना चाहिये। वेदों में भी बारबार निर्भयता की स्तुति की गई है

और इसी निर्भयता के मार्ग पर गान्धीजी सारे देश को अग्रसर करने का महान् प्रयत्न करने लगे। पंजाब के हत्याकांड और असहयोग आन्दोलन ने सारे देश को सतर्क कर दिया। जनता को मानो एक प्रकाशपूर्ण पथ मिल गया और वह उस पर चल पड़ी। आगे-आगे अपनी पतली-पतली टाँगों से गान्धीजी चल रहे थे—देश यह अनुभव करके ही कि वह गान्धी जी के पीछे-पीछे चल रहा है अपने भीतर पूर्ण निर्भयता और आत्मविश्वास का अनुभव करता था। असहयोग आन्दोलन का राजनैतिक महत्त्व दूसरे सभी आन्दोलनों से अधिक था; क्योंकि जनता के सामने गान्धीजी ने अभयता और आत्मनिर्भरता का यह पहला पाठ उपस्थित किया था। गान्धीजी के आने के पहले जनता यह तो अनुभव करती थी कि वह गुलाम है और अंग्रेज उस पर अत्याचार करते हैं, किन्तु इस स्थिति से छुटकारा पाने का कोई समुचित उपाय उसे मालूम न था। आतंकवादी कार्रवाइयों को जनता पसन्द तो करती थी, किन्तु सब के लिए यह संभव न था कि उस खतरनाक काम में योग दें, यदि क्रान्ति के रूप में आतंकवादी संगठन होता तो जनसाधारण उस व्यापक संगठन का शायद स्वागत करती किन्तु वह तो छिटपुट दुर्घटना के रूप में कभी यहाँ कभी वहाँ प्रकट होकर फिर लुप्त हो जाता था।

जनता केवल पकड़े जानेवाले आतंकवादी नौजवानों के प्रति मन-ही-मन सहानुभूति प्रकट करके, हाथ मल कर, रह जाती थी। शासन का भय तो था ही, साथ ही कोई ऐसा नेता भी तो न था जो जनता को क्रान्ति के लिए तैयार कर देता। शायद उन सारे साधनों का भी अभाव था जिन साधनों का आश्रय ग्रहण करके क्रान्ति भड़क उठती है। जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए व्यग्र तो थी, किन्तु वह कैसे अपनी इस व्यग्रता में अपने को युक्त करे इसका उपाय गान्धीजी ने बतलाया और सारा देश उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। गान्धीजी ने जनता को समझाया—"सत्य, शान्ति और अहिंसा ही हमारा सब कुछ है।"

सत्यवादी होना, शान्तिप्रिय होना और अहिंसक रहना वैयक्तिक गुण हो सकता है, किन्तु इन आध्यात्मिक गुणों को राजनैतिक उद्देश्य-सिद्धि के लिए व्यापक रूप में प्रसार कर देना गान्धीजी का ही काम था। गान्धी-जी दो काम एक साथ करते थे;—स्वराज्य की ओर बढ़ते जाना और स्वराज्य प्राप्त करके उसका उपयोग करने की सम्यक् पात्रता पैदा करते जाना! अंग्रेजों के लिए तो सत्य, अहिंसा आदि का प्रचार एक विध्वंसक कार्य था, किन्तु भारत के लिए, जनता के लिए, यह एक निर्माणात्मक आन्दोलन था। ज्यों-ज्यों भारत गान्धीजी

के मार्ग पर चलता गया, विकास की ओर बढ़ता गया; किन्तु उसी अनुपात से अंग्रेजी शासन में घुन लगती गई। चरित्रबल को प्रथम स्थान देकर गान्धीजी ने अंग्रेजों के लिए उनके गले की फाँसी तैयार कर दी। अंग्रेज यदि तलवार के जोर से देश को गुणों की ओर बढ़ने से रोकते हैं तो अपनी छिपी हुई बर्बरता का प्रदर्शन करते हैं और यदि वे चुप लगाए रहते हैं तो उनका सर्वस्वान्त होता है। गान्धीजी ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि बड़े-बड़े अंग्रेज कूटनीतिज्ञों का मानसिक दिवाला निकल गया। वे झख मार कर गान्धीजी की श्रेष्ठता स्वीकार करने लगे क्योंकि जिस क्रान्ति का नेतृत्व गान्धीजी कर रहे थे वह तलवार से भी तीखी और अव्यर्थ थी। उसे दबाया या मिटाया नहीं जा सकता था। एक प्रकार से सारा देश तपस्या में लग गया और अंग्रेज समझ रहे थे कि इस तपस्या की सिद्धि होगी उनके साम्राज्यवाद की मृत्यु के रूप में; किन्तु वे अनन्योपाय थे। प्रति क्षण अपनी हुकूमत के निकट मृत्यु के शीतल हाथ को अंग्रेज देखा करते थे किन्तु उनके हाथ बँधे हुए थे। बोलते हैं तो सारे संसार में उनकी बदनामी होती है और चुप रहते हैं तो भारत उनके हाथ से निकल जाता है। भारत का उनके हाथ से निकलना क्या था, इंग्लैंड की रीढ़ का टूट जाना था। इंग्लैंड की सारी साहबी भारत पर ही थी। भारत से

अलग होकर इंग्लैंड एक चौथे दर्जे का देश ही रह जायगा—यही स्थिति उसकी आज भी है।

असहयोग आन्दोलन ने देश के मानसिक स्तर को वहुत ऊपर उठा दिया। इस शान्ति और अहिंसा के युद्ध में देश के वहुत-से स्वनामधन्य पुरुषों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। देशवन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल जी, पटेल-वन्धु सभी गान्धीजी के इस विचित्र सांस्कृतिक आन्दोलन के सिपाही वन गए और देखते-देखते भारत के जेलखाने भर गए। वे कारागार कारागार न रह कर 'कृष्ण की जन्मभूमि' के नाम से, मन्दिर की तरह पवित्र हो गए। जेल का सारा भय जनता के हृदय से जाता रहा और हँसी-खुशी से सभी जेल की ओर जाने लगे—जेल का भय, लाठी डंडे का भय, गोलियों का भय—सरकार जिन आतंकों के वल पर शासन कर रही थी वे सारे-के-सारे काफूर वन कर उड़ गए। अव अंग्रेजों के लिए अपनी धाक जमाने का एक भी हथकंडा नहीं रहा। सारा भारत ही एक विराट् जेलखाना वन गया। देश पहले भी जेलखाना ही था, किन्तु गान्धीजी ने उसके सत्य स्वरूप को—अंग्रेजी शासन के सत्य स्वरूप को—जनता के सामने लाकर खड़ा कर दिया। मखमली दस्ताने उतर गए और अंग्रेजों का फौलादी पंजा सूर्य की रोशनी में साफ-साफ चमकने लगा। अव किसी को यह

कहने की गुंजाइश नहीं रह गई अंग्रेजी हुकूमत एक सभ्य हुकूमत है तथा भारत के लिए हितकर है। जनता को जैसे ही अंग्रेजी हुकूमत का सच्चा रूप दीख पड़ा वह गान्धीजी का सेवक बन गई।

असहयोग आन्दोलन एक शान्त और अत्यन्त पवित्रतम आन्दोलन था जिसने देश में आध्यात्मिक चेतना पैदा कर दी और उस चेतना का फल हुआ २६ जनवरी '५० को गणतन्त्र भारत का उदय।

अंग्रेज गान्धीजी को एक राजनीतिप्रधान नेता मानते थे किन्तु भारत उन्हें संत के रूप में जानती थी। राजनीति के भीतर की सारी गन्दगी को गान्धीजी ने मिटा कर उसमें पवित्रता का संचार कर दिया। गान्धीजी जानते थे कि राजनीति से मानव का विकास नहीं होता और राजनैतिक उद्देश्य-सिद्धि के चक्कर में पड़कर मानव दानव बन जाता है। अतः उन्होंने सत्य और अहिंसा तथा त्याग और सेवा के पथ को अपनाया—यह पथ स्वर्ग का पथ है, ईश्वर तक पहुँचानेवाला पथ है, न कि सिंहासन तक पहुँचाने वाली।

---

# गान्धीजी का रास्ता

कांग्रेस का इतिहास गान्धीजी का इतिहास है। गान्धीजी को बाद देकर कांग्रेस के सम्बन्ध में दस-पाँच पृष्ठ लिखना भी कठिन है। १९१९ से लेकर जब तक गान्धीजी हमारे बीच में रहे, भारत का सामाजिक जीवन गान्धीमय रहा। जीवन के – भारतीय जीवन के—प्रत्येक अंश को गान्धीजी ने आलोकित किया। यही कारण है कि मुक्ति के आन्दोलन पर जब हम कुछ लिखने बैठते हैं तो अनजानते ही गान्धीजी पर कलम चलने लगती है—प्रधान विषय कब कैसे छूट जाता है पता ही नहीं चलता। यदि यही गलती हम भी करें तो पाठक क्षमा करेंगे। गान्धी जी आकाश की तरह सर्वव्यापी रहे हैं और उनको अपने स्मृतिपट से निकाल कर वर्तमान भारत के सम्बन्ध में कुछ लिखना अत्यन्त कठिन काम है।

* * * *

गान्धीजी ने सदाचार को प्रथम स्थान अपने आन्दोलन में शायद संसार में पहले-पहल दिया—यह भारत का सौभाग्य है जो इतना बड़ा दार्शनिक प्रयोग जनसमूह पर यहाँ किया गया। गीता का भी यही उपदेश है—"सर्वभूतहिते रताः" पद आया है और इसमें

कहा गया है कि—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

महाभारत में भी इस सिद्धान्त का उल्लेख है। गीता में तो साफ-साफ कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जो अपने-जैसा सब का सुख-दुःख समझता है, वही सच्चा योगी गीता के अनुसार है। गान्धीजी ने इसी सिद्धान्त को अपने आन्दोलन में मूर्त-रूप प्रदान किया। "मा भैः" का मंत्र और त्याग तथा तपस्या का सिद्धान्त तथा "सर्वभूतहिते रताः" लक्ष्य मान कर ही उन्होंने अपने विख्यात आन्दोलन का श्रीगणेश १९१९ में किया। असहयोग आन्दोलन की पवित्रता तथा महानता को याद करके आज भी हृदय के भीतर से एक आह निकलती है। भारत का सांस्कृतिक संशोधन इसी आन्दोलन ने किया था। कांग्रेस के मंच पर से जिस आन्दोलन को गान्धीजी ने आरम्भ किया था, वह यद्यपि एक भयंकर आध्यात्मिक-क्रान्ति था, फिर भी वह विनाशात्मक नहीं; मूलतः और परिणामतः विकासात्मक ही कहा जा सकता है। उस आन्दोलन का सीधा प्रभाव अंग्रेजी हुकूमत पर पड़ा और भारत की गोरी सरकार चहले में फँस गई।

वह धीरे-धीरे अपनी सहानुभूति खोती गई और इने-गिने "जयचन्दों" के अतिरिक्त सारा देश गान्धीजी की पुकार सुनकर आत्म-संशोधन की इस आँच में कूद पड़ा। देशबन्धु दास और पं० मोतीलालजी-जैसे शाही-स्वभाव के महामानव भी खादी पहन कर जेल की जली-कच्ची रोटियाँ खाने—अपने-अपने महलों से चुप-चाप निकल पड़े। भगवान् बुद्ध की पुकार सुन कर एक बार सम्राट् महान् अशोक तक का आसन हिल उठा था तथा उसने अपने ही हाथों से अपने पुत्र महेन्द्र को तथा कन्या को भिक्षुओं के वस्त्र पहना कर संघ की शरण में भेज दिया था, उसी तरह गान्धीजी की पुकार सुन कर बड़े-बड़े "राजकुमार" जेल की चक्की, पुलिस के डंडे और नाना प्रकार के अत्याचार सहने मैदान में उतर पड़े और जनता के साथ धूलभरी धरती पर बैठ गए। उसी दिन धरती पुत्रवती हुई।

गान्धीजी ने देश के बल को नहीं पुकारा, उसकी लक्ष्मी को नहीं पुकारा—उन्होंने देश के हृदय को पुकारा और उसने उनकी पुकार का उत्तर दिया। आबाल-वृद्ध-वनिताओं की टोलियाँ हँसते-हँसते बाहर निकल पड़ीं और अंग्रेजों ने घबरा कर उनकी ओर देखा। मिथ्या भय और कायरता से देश को ऊपर उठाने का प्रयत्न गान्धी-जी ने किया। जो यह सोचते हैं कि १९१९ या १९२०-

२१ वाला आन्दोलन भारत को स्वतन्त्र कराने के निमित्त हुआ था और वह विफल हुआ, वे यह नहीं समझते कि उस आन्दोलन का प्रधान लक्ष्य क्या था। गान्धीजी ने जितने भी आन्दोलन किए वे सभी जनता के संस्कृति का स्तर ऊपर उठानेवाले थे—वे जनता को इतना ऊपर उठा देना चाहते थे कि जहाँ तक अंग्रेज पहुँच नहीं सकते—फिर शासन करनेका प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। पूर्ण जागरित और अत्यन्त सुसंस्कृत जनसमाज पर संगीनों से शासन नहीं किया जा सकता। एक संस्कारहीन जाति या वर्बर जाति दूसरी ऐसी जाति को अपने पैरों तले दबाकर नहीं रख सकती जिसमें गुणों का पूर्ण विकास हो चुका हो और वह अपने स्थान पर पूर्णता के साथ स्थित हो। जिस आन्दोलन का सूत्रपात गान्धीजी ने किया था वह एक आध्यात्मिक और निर्माणात्मक आन्दोलन था, न कि राजनैतिक उखाड़-पछाड़! मस्तिष्क की शक्तियों को हृदय की शक्तियों से प्रभावित करना आवश्यक है। हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने का परिणाम भयानक होता है। यह सच है कि ज्ञान ही शक्ति है, परन्तु इस शक्ति का उपयोग मनुष्य को गुलाम बनाना और उसका शोषण करने में—पृथिवी पर नरक का निर्माण करने में—सरलता से किया जा सकता है, जब कि

आवश्यकता इस बात की है कि पृथिवी पर स्वर्ग की रचना की जाय।

आज की दुनिया मस्तिष्क की पुजारिन बन गई है। मस्तिष्क को ही विकसित करने के प्रयत्न किए जाते हैं—भौतिकवाद और विज्ञान का बोलबाला इसी का परिणाम है। शक्ति-लोलुप मानव अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता जाता है और वह शक्ति आध्यात्मिक नहीं—रक्षसी है। शक्ति प्राप्त करने की धुन में मानव यह सोचना भूल गया कि उसका क्या उपयोग किया जाय—इसी का परिणाम है विनाशक अस्त्रों के निर्माण की होड़ और भयंकर युद्धों का बारबार होना। संयम-रहित शक्ति उस राक्षसी से भी बुरी है जो एक दिन अपने जन्मदाता और पालनकर्ता को ही चबा जाती है। यह सब परिणाम अन्वेषणों या शक्ति-संचय का नहीं है। वरन् इस बात का है कि संचित शक्ति को हृदय द्वारा संयत नहीं किया गया—हृदय से मस्तिष्क का नाता बिल्कुल ही टूट गया है। हृदय का काम अब केवल धड़कना मात्र रह गया है और सारी मानवता पर आज दिमाग शासन कर रहा है। हृदय तभी बलवान होता है और अपने गुणों का विकास कर पाता है जब वह सदाचार के द्वारा पाला-पोसा जाता है। मस्तिष्क के लिए तपस्या और इतनी देख-रेख की आवश्यकता नहीं है।

यही कारण है कि महात्माजी ने देश को सदाचार की बात बतलाई और उसे ठोस-राजनीतिज्ञ न बनाकर पूर्ण मानव बनाने का ही सदा प्रयास किया। गान्धीजी के प्रत्येक आन्दोलन की जड़ में उनकी यही भावना काम करती थी। उनका आन्दोलन जनता के लिए तपस्या का काम करता था न कि उसे उभारने का। गान्धीजी जानते थे कि जनता ज्यों-ज्यों अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती जायगी वह अजेय होती जायगी, उसकी शक्ति का विकास होता जायगा और एक दिन वह अपना गला स्वयम् काट लेगी। यदुवंशियों के शोकजनक अन्त की कथा महाभारत में है। असंयमित शक्ति ने ही उनका नाश कर दिया—वे बलवान बन गए, किन्तु हृदयवान नहीं। असहयोग आन्दोलन ने देश को आत्मनिर्भरता और निर्भयता का पाठ पढ़ाया, त्याग और तपस्या की ओर उसे प्रेरित किया, साथ ही अपूर्व संयम और आत्म-नियंत्रण की शिक्षा भी उसने दी। यही कारण है कि गान्धीजी देश के सामने एक संत के रूप में खड़े हुए—नेता के रूप में नहीं; कोरे शान्तिवादी के रूप में नहीं—राजनीतिज्ञ और अंग्रेजों के कट्टर वैरी के रूप में नहीं। गान्धीजी जानते थे कि गुणों की ओर भारत जितना जायगा अंग्रेजों की रीढ़ उतनी ही कमजोर होती जायगी। अंग्रेजों की रीढ़ पर प्रहार करने की आवश्यकता भी नहीं है। अंग्रेज यदि भारत में अपने

झंडे उड़ा रहे हैं तो उनका बल भारत की कमजोरी है—भारत के दोष हैं—भारत की हीनता है। एक बलवान, उच्च और गुणवान् देश पर रोब गाँठना असंभव है। गान्धीजी अंग्रेजों की मनोवृत्ति से परिचित थे। अंग्रेज उन तत्त्वों के बने हुए हैं जिनका पोषण दुर्गुणों से होता है—सुगन्धित वातावरण में अंग्रेज साँस ले ही नहीं सकते, उनका दम घुटने लगेगा और वे भाग खड़े होंगे। अपने जी जिलाए रखने के लिए अंग्रेजों ने देश में जिस गन्दगी का अम्बार लगा रक्खा था गान्धीजी ने मेहतर बनकर उस गन्दगी को हटाना आरंभ कर दिया और इसी अर्थ में वे अपने को 'हरिजन' कहने लगे। नेतृत्व की बागडोर सँभालते ही शान्ति और अहिंसा का नारा गान्धीजी ने बुलन्द किया। कांग्रेस को उन्होंने अपने विचारों के साँचे में ढाल डाला—अब कांग्रेस का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रह नहीं गया और वह गान्धीवादियों की एक सुसंगठित जमात के रूप में बदल गई। असहयोग आन्दोलन की व्यापकता ने देश के प्रत्येक क्रियाशील मस्तिष्क को सजग कर दिया और प्रत्येक हृदय को बलवान बना दिया। सादा रहन-सहन और उच्च विचार का इतना व्यापक प्रचार शायद ही कभी हुआ हो। आज जितने चोटी के नेता हमारे यहाँ हैं वे सभी असहयोग-युग की देन हैं। निर्माण करने का

जितना बल उस युग में था उतना दूसरे युगों में नहीं देखा गया ; यद्यपि आन्दोलन के कई युगों से गुजरते हुए हम स्वतन्त्रता के मन्दिर तक पहुँचे। खादी भी उसी युग की देन है जिसने आगे चलकर अंग्रेजों के व्यापारिक-षड्यन्त्र की ईंट से ईंट लड़ा दी! छोटे-से चर्खे ने बड़ी-बड़ी मेशीनों के पुर्जे ढीले कर दिए तथा देश को सत्य, त्याग और तपस्या की एक वर्दी दी। यह तब की पवित्र गाथा हम लिख रहे हैं जब गान्धीजी ने अपना असहयोग-आन्दोलन चलाया था और जिस आन्दोलन के प्रभाव ने सारे देश को सजग कर दिया था। देखते-देखते कांग्रेस से गान्धीजी का व्यक्तित्व बड़ा हो गया और फिर सारे देश से भी गान्धीजी बड़े हो गए। वह समय भी आया जब संसार से भी गान्धीजी बड़े हो गये।

भारत का इतिहास कहता है कि यहाँ बड़े-बड़े सम्राट् और वीर हुए किन्तु देश का नेतृत्व सदा त्यागियों और वनवासी संतों के ही हाथों में रहा। जंगलों में रहनेवाले ऋषियों को ही भारत अपना नेता स्वीकार करता आया है। यहाँ दो परम्पराएँ स्पष्ट हैं। पहली है राजाओं की या राजनीति-प्रधान व्यक्तियों की। भगवान् राम या योगीश्वर कृष्ण से आरंभ करके हम अशोक या उसके बाद राणा प्रताप, शिवाजी तक आते हैं। यह राजनीति-प्रधान परम्परा है और देश की भौतिक-उन्नति

या शासनिक विकास के लिए यह परम्परा उद्योगशील रही, किन्तु भारत ने कभी भी सिंहासनछत्र को अधिक महत्व नहीं दिया। राज-परम्परा के महापुरुष कभी भी नेता नहीं स्वीकार किए गए—इन्हें भी वनवासी संतों के आश्रमों की खाक छाननी पड़ी जहाँ से इन्हें प्रेरणा, प्रगति और सुविचार मिलते रहे। सर्वस्वत्यागी संतों के आशीर्वाद प्राप्त करके ही यहाँ की राजपरम्परा फूली फली। भगवान् रामचन्द्र यदि वशिष्ठ की वन्दना करते थे तो महाराज शिवाजी समर्थ स्वामी रामदास के चरण-सेवक थे। भगवान् रामचन्द्र और शिवाजी भले ही शासक थे, किन्तु देश के नेता, देश को उच्च विचारों से विभूषित करनेवाले और ज्ञान के प्रकाश में सत्य को स्पष्ट करनेवाले संत ही थे और देश ने आध्यात्मिक नेताओं को ही अपना नेता माना। राजपरम्परा का यहाँ अन्त हो चुका था—मुसलमानी और अंग्रेजी शासन ने राजपरम्परा का यहाँ अन्त हो चुका था—मुसलमानी और अंग्रेजीशासन ने राजपरम्परा को समाप्त कर दिया था, किन्तु संत-परम्परा की जड़ काटना किसी भी शासक की शक्ति के बाहर की चीज है। हमारे यहाँ संतों और सच्चे अर्थों में नेताओं की जो परम्परा अनादि युग से चली आ रही है, जिसमें वशिष्ठ, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि हो चुके हैं उसी परम्परा में गान्धीजी हुए। अतः देश ने उन्हें एकस्वर से

अपना नेता स्वीकार कर लिया—आध्यात्मिक नेता ही सदा से भारत का नेता होता आया है, ऐसा हम स्पष्ट कह चुके हैं। गान्धी जी हमारे राजनैतिक नेता नहीं हैं और यह साफ जाहिर है कि राजनैतिक नेता को भारत कभी भी स्वीकार ही नहीं कर सकता। यह अपनी गिरती अवस्था में भी सदाचार और अध्यात्म-प्रधान देश है, जड़वादी नहीं। महात्माजी ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। उन्होंने उस सूत्र को, जो बुद्ध के बाद टूट गया था—इस युग से जोड़ दिया—एक सूत्रता की उन्होंने स्थापना कर दी। स्वयम् महात्माजी ने कहा है—

> "मैं इस बात का दावा तो रखता हूँ कि मैं भारत-माता का और मानवमात्र का एक नम्र सेवक हूँ और ऐसी सेवाओं के करते हुए मृत्यु की गोद में जाना पसन्द करूँगा। पर, मुझे सम्प्रदाय स्थापित करने की कोई इच्छा नहीं है। सच पूछिए तो मेरी महत्वाकांक्षा इतनी विशाल है कि कुछ अनुयायियों का कोई सम्प्रदाय स्थापित करके तृप्ति नहीं हो सकती।
>
> मैंने किसी नये सत्य का आविष्कार नहीं किया है। बल्कि सत्य को जैसा मैं जानता हूँ उसी के अनुसार चलने का लोगों को बताने का प्रयत्न करता हूँ। हाँ, मैं प्राचीन सत्य-सिद्धान्तों पर नया प्रकाश

डालने का दावा ज़रूर करता हूँ।"*

संत और साधारण मानव में यही अन्तर है कि संत केवल उपदेशक ही नहीं रहते। वे जो कुछ कहते हैं आत्मानुभव के साथ और साधारण व्यक्ति सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई वातों को ही रट कर अपनी धाक जमाता फिरता है। गान्धीजी के सम्बन्ध में पहली वात लागू होती है। वे दूसरों के लिए जो कुछ भी सुधार वतलाते हैं या वह दूसरों को जो कुछ करने के लिए सलाह देते हैं या देते थे उसका तुरंत अपने आप पर भी प्रयोग करते थे। वे सदा अपने से ही आरंभ करते हैं और उनके वचन में तथा कर्म में गहरी एकता रहा करती थी। यही कारण है कि वड़े-वड़े तूफानों में भी वे अटल रहे और उनकी समग्रता कभी भी नष्ट नहीं हुई। उनके जीवन और कार्य में अभिन्नता भी वनी रही। अपनी वाह्य-विफलताओं में भी वे आभ्यन्तरिक उन्नति की ही ओर न केवल स्वयम् वढ़ते गए, वल्कि सारे जन-समाज को भी लिए गये।

जनता को कभी भी उन्होंने विफलताजन्य पराजय की हीन-भावना का शिकार होने नहीं दिया, यद्यपि उनके कई आन्दोलन उठे और गिरे; किन्तु प्रत्येक आन्दोलन जनता को कुछ-न-कुछ देकर ही समाप्त हुआ, कुछ नष्ट करके नहीं। यही कारण है कि जनता ने कभी भी

---

*हिन्दी नवजीवन—२६।८।२१

पराजय का अनुभव ही नहीं किया। आन्दोलन दब गया किन्तु जनता ने यही अनुभव किया कि वह एक मोर्चा जीत कर अगले मोर्चे की ओर बढ़ रही है। असहयोग आन्दोलन भी समाप्त हो गया, किन्तु उसने देश को उन्नति की एक खास हद तक पहुँचा दिया।

लेखों और भाषणों से वे बहुत ऊपर थे—उनके भीतर की भावना की झलक तो उनकी उन सेवाओं में मिलती है जो उन्होंने थकी हुई, हारी हुई और निराश भारतीय-जनता की की है। गान्धीजी ने जनता में आत्म-गौरव और साहस की भावना भर कर उसे ऊपर उठाया। वे कहा करते थे कि—"साहस चरित्र का एकमात्र निश्चित आधार है, साहस के बिना न तो कोई नैतिकता है, न धर्म और न प्रेम। जब तक हम भय के पात्र बने हुए हैं तब तक सत्य या प्रेम का अनुसरण ही नहीं कर सकते। कायरता हिंसा से भी घृणास्पद विकार है।"

गान्धीजी के सिद्धान्तानुसार चरित्र के बिना बुद्धि एक भयंकर संकट है—चरित्रहीन बुद्धि क्या है?

हम असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में लिख रहे थे। जब तक हम गान्धीजी के सम्बन्ध में कुछ कह न लेंगे तब तक हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम उनके आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ साफ-साफ कह सकें। किसी भी

आन्दोलन के दो रूप होते हैं—आन्तरिक और वाह्य! जड़वादी आन्दोलन अन्तःसार-शून्य होता है। ऐसे आन्दोलन में किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि भले ही हो जाय. किन्तु जनता का सांस्कृतिक स्तर उठने की अपेक्षा नीचे गिर जाता है। मुसलमानों ने यद्यपि पाकिस्तान प्राप्त कर लिया, किन्तु मुसलमान-जनता का सांस्कृतिक-स्तर अत्यन्त नीचे गिर गया। लीगी नेताओं ने केवल उद्देश्य-प्राप्ति की ओर ही ध्यान नहीं दिया। एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए उकसाकर जनता को आगे वढ़ाया गया और जनशक्ति का मनमाना उपयोग करके उद्देश्य की सिद्धि कर ली गई किन्तु जितना मुसलमानों ने पाया उससे कहीं अधिक गँवाया—उनका सांस्कृतिक दिवाला निकल गया। गान्धीजी ने अपने आन्दोलन को सदा सांस्कृतिक वल से ही वलवान वनाया—उनके अहिंसा-सिद्धान्त का यही रहस्य है। संसार के दूसरे नेताओं से गान्धी जी की यही भिन्नता है। जव कि दूसरे नेता जनता के भले-वुरे की कोई चिन्ता न करके उसे अन्धाधुन्ध हाँकते हुए लक्ष्य तक ले जाते हैं गान्धीजी जनता को हीं इस योग्य वना देते हैं कि आगे चलकर वह अपना नेतृत्व स्वयम् करे। '४२ की क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि जनता विना नेता के भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक वड़ी क्रान्ति का भी संचालन कर सकती है और अनु-

शासन कायम रख सकती है—यह गान्धीजी की शिक्षाओं का प्रभाव था।

अंग्रेजी सरकार ने रौलेक्ट-एक्ट पास करने का निश्चय किया। यह एक्ट भारत के सिर पर लटकनेवाली तलवारों में सबसे अधिक संहारक और तीखा था। गान्धीजी इस एक्ट का विरोध करने को तुल गए और सारे देश ने गान्धी जी का समर्थन किया। उन्होंने सरकार को अपने विचार की सूचना दी, किन्तु अंग्रेज अपनी जिद्दी आदत के कारण सुनी अनसुनी करके भारतीय लोकमत भड़काने का दायित्व अपने सिर पर लादने में जरा भी नहीं हिचकिचाए। कानून बनने के बाद पहले एतवार को सारे देश में शोक मनाने, उपवास करने और सभाएँ करने का एलान गान्धी जी ने किया। यह पहला अखिल भारतीय प्रदर्शन अपने ढंग का था। इस अपील के अनुसार ६ एप्रील १९१९ को देश के कोने-कोने में उपवास, प्रार्थना और सभाओं का तूफान पैदा हो गया। यह पहला अवसर था जब सारे देश ने—गावों और शहरों तक ने साथ-साथ किसी व्यापक राजनैतिक प्रदर्शन में शान्तिपूर्वक भाग लिया। शान्त और अहिंसक जनता पर गोलियों की बौछार भी पहली बार भारत में आरंभ हुई जो स्वराज्य मिल जाने के ठीक पहले तक जारी रही। जलियाँवाला हत्याकांड

इस आन्दोलन के सिर पर रत्न-खचित मुकुट की तरह सुशोभित हुआ। पंजाब को बुरी तरह रौंदा गया और वहाँ अंग्रेजों ने जी खोलकर अपनी बर्बरता का प्रदर्शन किया। हफ्तों तक सारा देश पंजाब के सम्बन्ध में जानने के लिए छटपटाता रहा, किन्तु अंग्रेजों ने कड़ा सेंसर बैठा कर वहाँ के समाचारों को बाहर जाने नहीं दिया। पंजाब फौजी कानून के शिकंजे में फँसा दम-तोड़ रहा था और शेष भारत वहाँ का समाचार जानने को व्यग्र था। हफ्तों बाद जब सत्य का पता चला तो देश क्षोभ से व्यग्र हो उठा—पंजाब पर अमानुषिक अत्याचार किए गए थे। बर्बरयुग की डरावनी कहानियों को भी महत्वहीन बनानेवाले थे वे अत्याचार जो पंजाब पर किए गए थे। विष ने दवा का काम किया और देश में अपूर्व चेतना चमक उठी। लाखों करोड़ों कंठों से निकलनेवाली आवाजों के ऊपर एक धीमी और नरम आवाज गूँज रही थी और वह आवाज थी गान्धीजी की। वे कह रहे थे—"शान्ति रक्खो, अहिंसक बने रहो, सत्य का सदा साथ दो।"

अगले साल (१९२०) कांग्रेस का अस्तित्व सामने आ गया और उसने असहयोग के कार्यक्रम को अपनाकर देश का पथ-प्रदर्शन करना आरंभ कर दिया, किन्तु जनता के सामने गांधीजी की महानता के पीछे एक

पीछे-पीछे चलनेवाले आज्ञाकारी सेवक की तरह। कांग्रेस का पुराना विधान बदल डाला गया और वह एक कार्यक्षम-संस्था बन गई जिसके प्राण गांधीजी थे। गांधीजी की कांग्रेस पुरानी कांग्रेस से भिन्न थी—कांग्रेस का आमूल परिवर्तन हो चुका था। कांग्रेस ने वहिष्कार और असहयोग के सिद्धांतों को अपनाया और अहिंसा तथा शान्ति के सिद्धान्तों को उसने अपना धर्म माना। उपाधियों का, स्कूल-कालेजों का, कचहरी और कौंसिलों का वहिष्कार का नारा कांग्रेस ने स्वीकार किया तथा हाथकते और करघे की बुनी शुद्ध खादी को कांग्रेस ने अपनाया। इस तरह कांग्रेस जब गान्धीजी के सिद्धांतों को अपना चुकी तो उनके लिए उसके भीतर कोई स्थान नहीं रहा जो अंग्रेजों से सीधी लड़ाई लड़ने के समर्थक नहीं थे तथा उपाधियों और सरकारी पदों का त्याग करना जिनके लिये कठिन था—जेल जाने की बात ही अलग रही। ऐसे नरम विचार के व्यक्ति चुप-चाप कांग्रेस से निकल आए वे और कर ही क्या सकते थे। उनमें बड़े-बड़े धनी और बुद्धिजीवी व्यक्ति थे। इन बड़े आदमियों में से कुछ ने, जिनका हृदय देशप्रेम से सचमुच छटपटया करता था, समय-कुसमय में कांग्रेस का साथ अपने अनुभव, दिमाग और पांडित्य के द्वारा दिया और कुछ जो नरम-कांग्रेस में केवल

भाषण देने और गद्दीदार कुर्सियों की शोभा बढ़ाने आए थे वे सदा के लिए अलग हो गए और कुछ ऐसे भी थे जो कांग्रेस के विरोधी रूप में भी प्रगट हुए—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विरोधी के रूप में। इनका नाम लेना उचित न होगा क्योंकि ये कोई गैर नहीं हैं अपने ही तो हैं या थे। अंग्रेजी मायाजाल में पड़कर इन गुमराह पुरुषों ने देश का साथ नहीं दिया—इनके सामने इनका अपना स्वार्थ ही प्रधान रूप में उपस्थित रहा और देश की करोड़-करोड़ जनता की ओर ध्यान इनका न था, यद्यपि समष्टि रूप में उन पीड़ाओं और अपमान को वे भी भोगते रहे जो गुलामी के कारण देश भोगता था। गान्धीजी का असहयोग आन्दोलन ही बाद में प्रकट होनेवाले और मिटनेवाले सभी बड़े-छोटे गान्धीवादी अन्दोलनों की नींव है। यही कारण है कि असहयोग आन्दोलन का भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में श्रेष्ठ और स्मरणीय महत्व है।

साम्राज्यवाद अपनी नीति से पराधीन जनता के भेदभाव बनाए रखता है और उन्हें बढ़ाता है। दुनिया के सामने वह बेशर्मी के साथ यह ढोल पीटता चलता है कि भेद-भाव के कारण यह जनता हुकूमत की बाग-डोर सभाँलने के योग्य नहीं है, इसमें स्वतन्त्र होने की पात्रता नहीं है। किन्तु सच्ची बात यह है कि वह

अपने शासन से उन सारे भेदभावों को, उन गंदी बुराइयों का पोषण करता है, उन्हें बढ़ाता रहता है। अपनी इस बेईमानी के चलते उस शासक या सरकार को एक-न-एक दिन क्रान्ति का सामना करना ही पड़ता है और उसका लत्ता-लत्ता उड़ जाता है। भारत के सम्बन्ध में भी यही बात हम कहते हैं। अंग्रेजों ने यहाँ के भेदभाव को न केवल बढ़ाया ही, बल्कि अनेक गंदी आदतों का प्रसार हमारे यहाँ किया और भारतीय संस्कृति का तो मूलोच्छेद ही कर डाला। आज संस्कृति कहलाने योग्य हमारे यहाँ कुछ भी नहीं है और सांस्कृतिक विनाश के मानी हैं राष्ट्रीयता का मूलोच्छेद। सांस्कृतिक ऐक्य का ही दूसरा नाम राष्ट्रीयता है। देश की विभिन्न संस्कृतियों का ऐक्य "बहुजन-सुखाय, बहुजन-हिताय" के आधार पर होता है और इस तरह अलग-अलग पनपने और विकसित होनेवाली बहुत-सी संस्कृतियों में एकरूपता का स्थापन होता है और यह एकरूपता या एकता जितनी दृढ़ होती है राष्ट्रीयता उतनी ही दृढ़ होती है। रूस की बहुत सी जातियों के आचार-व्यवहार, साहित्य, संगीत सभी भिन्न हैं, किन्तु "समान हित" के सूत्र में आबद्ध होकर उन्होंने महान् राष्ट्रीयता का निर्माण किया है और उसी राष्ट्रीयता की उमंगों ने प्रसिद्ध नाजी आक्रमण से रूसियों की रक्षा की,

उनके देश को बचाया और उन्हें बर्बाद होने से साफ-साफ बचा लिया। भारत में धर्म के आधार पर एक महान राष्ट्रीयता को जन्म दिया गया था। कालान्तर में इस राष्ट्रीयता की नींव में ही खोखलापन आ गया और धर्म-रक्षा का नहीं, मूर्खता का और विग्रह का, झगड़े का, फूट का कारण बन गया। गान्धीजी ने इस सत्य को समझा और उन्होंने फिर—"रघुपति राघव राजा राम" का मंत्र जन-जन को दिया। किसी ऋषि ने 'प्रणव' मंत्र का द्रष्टा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तो किसी को 'सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्' का; किसी ऋषि ने "तत्वमसि" मंत्र का दर्शन किया तो गान्धीजी ने "रघुपति राघव राजाराम" मंत्र की प्रेरणा पाई। मंत्रद्रष्टा ऋषियों में गान्धीजी का भी स्थान है और इसी मंत्र की नींव पर उन्होंने एक महाजाति के संगठन की नींव डाल दी और इस तरह एक बलवान् राष्ट्र के प्रादुर्भाव होने की संभावना को उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक बना दिया।

१९१९ का उनका आन्दोलन बाहर से राजनैतिक कहा जा सकता है, किन्तु भीतर-ही-भीतर वह अजेय सृजनात्मक-बल रखता है। उस आन्दोलन ने केवल सृजन का ही काम किया—विनाश का नहीं। अंग्रेजों ने भारतीयों की अखंडता का पूरी तरह नाश ही कर डाला। असंख्य फिरकों और जातियों का निर्माण ही

अंग्रेजों ने नहीं किया, बल्कि उनमें स्वार्थ की गंदी बदबू उन्होंने पैदा कर दी और उस बदबू का समर्थन भी किया और उसे लाभदायक सिद्ध करने के लिए कुछ सहूलियतें भी दीं।

मुसलमान, सिक्ख, बौद्ध, अछूत, सभी अपनी सत्ता को अलग-अलग स्थापित करके अंग्रेजों से सहूलियत पाने के लिए तैयार हो गये और इस तरह भारत एक "भौगोलिक" नाम रह गया, राष्ट्रीय नहीं। यह इतनी भयानक मार थी कि इसकी भयंकरता की ओर केवल गान्धीजी का ही ध्यान गया और उन्होंने यह अनुभव किया कि देश का संगठन यदि होना ही है तो उसका आधार शुद्ध सांस्कृतिक हो न कि राजनैतिक। राजनीति के विकारों से गांधीजी परिचित थे और वे जानते थे कि शुद्ध याने केवल राजनीति एक खतरनाक चीज है। शक्ति प्राप्त करने के लिए या पाई हुई शक्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए या उसे बढ़ाने के लिए मानव कोई ऐसा पाप नहीं है जो नहीं कर सकता। अनियंत्रित राजनीति किसी भी देश को नाश कर डालती है। राजनीति के मुँह में कँटीली लगाम लगाना आवश्यक समझ कर ही गान्धीजी ने धर्म को राजनीति का पोषक बनाया—त्याग, तपस्या और सेवा आदि गुणों के आधार पर राजनीति की नींव रखने के दो स्पष्ट परिणाम प्रकट

होते हैं—प्रथम तो यह कि राजनीति किसी को पथभ्रष्ट नहीं करती और दूसरा यह कि देश की संस्कृति और राष्ट्रीयता का विकास गुणों के आधार पर होता है; "नाजीवाद" की तरह उग्र जातीयता के आधार पर नहीं। साथ ही "घृणा" और घृणाजनित द्वेष का भी उदय नहीं हो पाता। यही कारण है कि—उन्होंने सत्य, अहिंसा, शान्ति और "रघुपति राघव राजाराम" को अपने संगठन का आधार बनाया। यह सांस्कृतिक-संगठन राष्ट्रीयता का ही एक आध्यात्मिक रूप था जिसकी जड़ें बहुत गहरे तक चली जातीं यदि बापू सफल हो जाते और भारत एक महान् देश बन कर फिर संसार का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक बन जाता; किन्तु ऐसा हो न सका और गान्धीजी परमधाम की ओर चले गये। उनके जाते ही राजनीति का वह शुद्ध भारतीय रूप नहीं रहा जिस रूप के निर्माता गान्धीजी थे। आज की भारतीय राजनीति पाश्चात्य रंग में सराबोर होती जा रही है तथा उसके भीतर के वे देवदुर्लभ गुण, जो गान्धीजी के कारण थे, क्षीण होते जा रहे हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण हमारा "संविधान" है जो भारत का संविधान होता हुआ भी भारत का प्रतिनिधित्व उसके सांस्कृतिक आधार पर नहीं करता और उसका सारा ढाँचा पाश्चात्य है। हमारी चिन्ता-धारा कुछ हद तक इसके लिये दोषी है।

१९१९ से आरम्भ करके १९३५ की भारतीय राजनीति संसार को चकित कर देने वाली कही जा सकती है। बाहर से राजनीतिक दिखलाई पड़ने वाले तथा भीतर से शुद्ध सांस्कृतिक आन्दोलन इन्हीं वर्षों के बीच में हुए जिनका शानदार नेतृत्व गान्धीजी ने किया। देश में जो बड़े-बड़े स्वनामधन्य नेता आज हैं उनका प्रादुर्भाव इन्हीं वर्षों में हुआ और सारा देश इन्हीं १७ वर्षों में सजग होकर उठ बैठा। सारे संसार का ध्यान भारत की ओर इन्हीं वर्षों में आकर्षित हुआ तथा संसार ने स्वीकार कर लिया कि गान्धीजी के नेतृत्व में भारत एक अद्भुत प्रयोग में जुटा हुआ है। त्याग, तपस्या आदि व्यक्ति के गुण माने गये हैं किन्तु गान्धीजी ने इन गुणों को सार्वजनिक बना दिया, याने समुदाय के करोड़ों-करोड़ों मानवों के ये गुण हो गये। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जब सारा-का-सारा देश और विभिन्न आचारों, विचारों और धर्मों के माननेवाले मानव एक साथ एक ही प्रकार की आध्यात्मिक साधना में जुट पड़ा हो और वह भी अपनी गुलामी को समाप्त करने के लिये।

इतिहास में ऐसा उदाहरण भी नहीं मिलता जब भयंकर-से-भयंकर अस्त्रों और बर्बर दमन के विरोध में शान्ति और अहिंसा तथा प्रेम का निष्ठापूर्वक सहारा लेकर कोई

देश उठ खड़ा हुआ हो। बर्बरता के सामने गान्धीजी ने मानवता को लाकर खड़ा कर दिया और अन्त में बर्बरता की हार हो गई, मानवता जीत गई। बर्बरता पहली बार भारत में हारी और मानवता ने विजय का यश पाया, नहीं तो सदा से बर्बरता जीतती आई है और मानवता हारती रही। राइफल की गोलियों की हार हुई खुली हुई छाती के सामने और दमन की हार हुई शान्ति और अहिंसा से। यह एक ऐसी विचित्र बात है जिसे किस्से कहानियों में ही स्थान मिल सकता है—व्यवहार की दुनिया में नहीं—किन्तु सच बात तो यह है कि असंभव को संभव बनाने का गौरव भारत को ही प्राप्त हुआ। संक्षेप में यही गान्धीवादी आन्दोलन का इतिहास है। हम एक चित्र यहाँ पर देना उचित समझते हैं।

श्री राम

|

गान्धीजी [ कारण-स्वरूप ]

|

| पूर्ण भारतीयता | सांस्कृतिक उदय | आस्तिकता | स्वतन्त्रता |
|---|---|---|---|
| (कार्य) १ | (कार्य) २ | (कार्य) ३ | (कार्य) ४ |

|
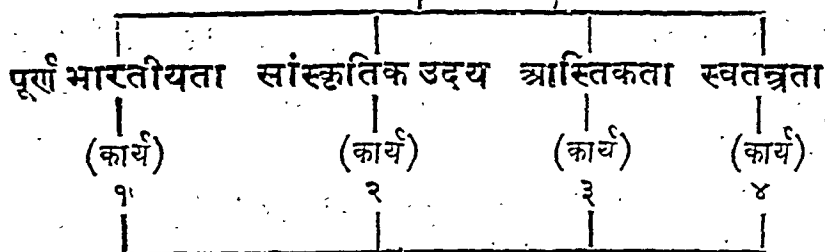
रामराज्य या सर्वोदय।

( महान् परिणाम )

घटनाप्रवाह में उतार चढ़ाव संभव है। और विभिन्न घटनाओं का उस प्रवाह में आकर मिल जाना या उससे अलग हो जाना या समाप्त हो जाना संभव है और यदि हम सारी बातों पर अलग-अलग भारतीयतात्मक प्रकाश डालें तो यह पुस्तक महाग्रन्थ—महाभारत-जैसा—बन जायगा।

भारत का रामराज्य ही संसार का सर्वोदय है। गान्धीजी ने अपने आन्दोलन को केवल भारत के लिये नहीं आरंभ किया था—यह तो उनकी प्रयोगभूमि है। स्वतंत्र भारत दूसरे स्वतन्त्र देशों की तरह अपनी स्वतन्त्रता का सुख स्वयम् लूटे यह गान्धीजी को पसन्द न था। वे स्वतंत्र भारत को संसार का सेवक बनाना चाहते थे न कि संसार के लिए एक नवोदित संकट। यही कारण है कि असहयोग आन्दोलन से आरंभ करके और भी जितने आन्दोलन गान्धीजी के नेतृत्व में हुए वे सभी परिणाम में कल्याणप्रद ही थे। यदि ऐसी बात न होती तो उनके द्वारा संचालित किसी भी एक आन्दोलन के दबते ही देश का विश्वास गान्धीजी पर से उठ जाता। कभी भी देश ने गान्धीजी पर यह लांछन नहीं लगाया कि उन्होंने सही-सही नेतृत्व नहीं किया। श्रेय-रहित होकर, शुद्ध बुद्धि से नेतृत्व करनेवाले गान्धीजी सदा कर्मफल के बन्धन से मुक्त रहे और यही कारण है कि उनके द्वारा किये गये कर्म [ आन्दोलन ]

उन्हें बाँध नहीं सके और न फलाफल का भार ही उनके कन्धों पर लदा। निर्लिप्त भाव से किये गये कर्मों का फल कर्ता को कैसे बाँधेगा। इस तरह भारतीय आन्दोलन का आधार आध्यात्मिक रहा और उसके नेता गान्धीजी सब कुछ करते हुए भी निर्लिप्त ही बने रहे।

वे मूर्ख हैं जो यह सोचते हों कि गान्धीजी ने अपने प्रत्येक आन्दोलन को इस निश्चय के साथ आरंभ किया था कि "इसका अन्त स्वराज्य-प्राप्ति के साथ होगा।" गान्धीजी के सामने भारत का इतिहास खुला हुआ पड़ा था— वह इतिहास जो इसके अच्छे दिनों से आरंभ होकर बुरे दिनों तक का एक क्रमबद्ध चित्र उपस्थित करता था। गान्धीजी ने न केवल अपने को उन ऐतिहासिक घटनाओं तक ही सीमित रक्खा बल्कि उन्होंने उन घटनाओं के कारण और परिणाम को भी समझने का साफ-साफ प्रयत्न किया और उनकी तेज आँखों के सामने कुछ भी छिपा न रह सका। गान्धीजी ने समझ लिया कि अंग्रेज देश की मूर्खता, तबाही, कायरता, ढोंग, पारस्परिक अविश्वास आदि दुर्गुणों के आधार पर ही शासन कर रहे हैं और इन दुर्गुणों को कायम रखना या बढ़ावा देते रहना अंग्रेजों की प्रधान नीति रही है। देशवासियों में पारस्परिक अविश्वास की भावना पैदा कर देना या उनमें झगड़ालूपन की आदत डाल देना अंग्रेजों के लिए

साधारण सी बात थी और भारत में उन्होंने अपनी इस नीति का प्रयोग निर्भय होकर किया। जिसका परिणाम "पाकिस्तान" है। उन भारतीयों को, जो कुछ भी मूल्य देकर पद प्राप्त कर सकते हैं गान्धीजी पहचानते थे—मानसिंह-जैसे इतिहास-कुख्यात व्यक्ति गान्धीजी से अपरिचित न थे जिन्हें जयचन्द से भी बुरा कहना चाहिये। अपने देश और अपनी वंश-मर्यादा तक का गला घोंटना और सरकारी-पद पाना भारतीयों के अनेक गंदे दुर्गुणों में विशेष स्थान रखता है। मानसिक दरिद्रता के कारण अर्थ-लोलुपता आदि दोष भी पराकाष्ठा तक पहुँच चुके हैं—सदियों तक लगातार गुलाम बने रहने वाला देश अपनी सारी विशेषताओं को गँवा चुका था, यद्यपि वे विशेषतायें मूलरूप में, संस्कार-रूप में अभी तक भारत में निहित थीं जिन पर कुसंस्कारों का इतना कूड़ा जमा कर दिया गया था कि उनकी चमक बाहर नहीं निकल पाती थी। गान्धीजी जनता को शान्ति-संघर्ष में उतार कर उसके उन्हीं जघन्य दुर्गुणों को साफ कर देना चाहते थे। उसके मानसिक विकास और सद्गुणों को उन दुर्गुणों ने उभरने से रोक रक्खा था और सबसे बुरी बात तो यह थी कि जनता अपनी अजेय शक्ति और अपने स्वरूप तक को भूल गई थी। जनता की बड़ी-से-बड़ी महत्वाकांक्षा एकाध अर्थ-

हीन उपाधि या सरकारी नौकरी तक ही आकर समाप्त
हो जाती थी—भारत की शिक्षा-संस्थायें भी क्लर्क गढ़ने
के लिए ही थीं और मा-बाप अपने बच्चों को पढ़ाते भी थे
इसी परम-पद के लिये। जब गान्धीजी ने देश का
नेतृत्व सँभाला तो उस समय यद्यपि देश के रक्त में
कुछ गर्मी आ गई थी किन्तु वह गर्मी इतनी न थी
कि हिमालय पिघल जाता और गान्धीजी ने हिमालय
को पिघला देने का ही कठोर व्रत धारण किया।
सचमुच हिमालय जितनी ठंढ़क देश के खून में भर
गई थी। हालत नाजुक थी, स्थिति संगीन थी—
आखिर साँस चल रही थी, हाथ-पाँव पड़ गये थे
तब गान्धीजी ने रोगी की चिकित्सा का भार
स्वीकार किया। उनका आत्मविश्वास सदा अजेय रहा।

हमने शायद अब तक गान्धीजी का ही नाम बारबार लिया
है और संभव है हमारा ऐसा लिखना गान्धीजी पर ही
लिखने-जैसा न हो जाय किन्तु यह स्पष्ट है कि हम चाहे
गान्धीजी पर लिखें या १९१९ से आरंभ करके १९४७ तक
के भारतीय राजनीति पर लिखें दोनो एक ही बात है।
किसी भी देश के—भारत को छोड़कर—इतने वर्षों का
राजनैतिक इतिहास शायद ही ऐसा हो जिस पर केवल
एक ही नेता का साद्यंत प्रभाव रहा हो और देश और
उस नेता में इतनी एकात्मता स्थापित हो गई हो कि दोनों

को अलग-अलग करके अलग-अलग समीक्षा करने की संभावना ही न रह गई हो। रूस की क्रान्ति के इतिहास में लेनिन का व्यक्तित्व निश्चय ही अपनी व्यापकता के कारण असाधारण था किन्तु यह बात न थी—रूस का नेता लेनिन था और रूस लेनिन का था किन्तु ऐसा कभी न हुआ जब लेनिन को ही रूस समझा गया और रूस लेनिन बन गया हो। किन्तु यह बात भारत में सही उतरी—गान्धी और भारत में कोई अन्तर ही नहीं रहा। विदेशों में तो गान्धी भारत समझे गये। सुना जाता है कि भगवान् विश्वमय हैं या विश्व उनमें है। यह बात गान्धीजी और भारत, भारत और गान्धीजी की एकरूपता देखने से समझ में आ जाती है। एक विचित्र आध्यात्मिक रहस्य का उद्‌घाटन हुआ है।

अंग्रेज अपनी सारी आसुरी शक्ति को लगा कर भी गान्धीजी के आध्यात्मिक प्रभाव को नहीं मिटा सके—तलवार से पानी नहीं काटा जा सकता। गान्धीजी के प्रभाव के कारण भारत मिथ्या मोह और भय से जब मुक्त हो गया तो भारत की सारी जेलें भर गईं। लाखों व्यक्ति जेलों के भीतर चले गये और लाखों बाहर खड़े-खड़े फाटक खुलने की व्यग्र प्रतीक्षा करने लगे। जेल का भय, घर-द्वार नष्ट होने का भय, फाँसी और कालेपानी का भय, गोली खाने का भय—आप ही

सोचिए जिस राज्य की प्रजा इन सारे भयों का त्याग करके शासन के विरोध में शान्तिपूर्वक उठ खड़ी हो तो फिर सरकार कय घंटे टिक सकती है ?

कानून और शान्ति ( लॉ और आर्डर )—उत्तम शासन है कानून के द्वारा प्रजा शासित हो। कानून की रक्षा के लिए कभी-कभी शक्ति का संयत उपयोग होना चाहिए। यदि स्थिति ऐसी पैदा हो जाय कि कानून के प्राण निकल जायं और केवल शक्ति ही शासन करने का एक मात्र साधन वन जाय तो सारा देश कसाईखाना वन जायगा। दमन का, तलवार का शासन चलनेवाला नहीं होता—दमन में स्वयम् एक वुराई है, शासनिक दिवालापन है और वह यह कि जिस देश में दमन किया जाता है वहां दमन की आँच से ही दमन के विरोधी तत्त्व पैदा होने लगते हैं। लोहे से जंग पैदा होकर जैसे लोहे को खा जाती है, उसी तरह दमन से एक ऐसी प्रतिक्रियात्मक शक्ति पैदा होती है जो दमन की आग को भी जलाकर खाक कर डालती है—भारत में अंग्रेजों के दमन के मंथन से भी हलाहल पैदा हुआ। जिसने अंग्रेजी शासन को जलाकर किसी हद तक खाक कर डाला वह थी ४२ की घोर क्रान्ति। ऊपर से देखने में यह वात विवादास्पद-सी लगती है, क्योंकि हम किसी भी क्रान्ति के व्यक्त रूप को देखकर फैसला देते हैं ; किन्तु उसका अव्यक्त रूप व्यक्त रूप से भी भयंकर होता है।

---

मुद्रक—श्रीरामेश्वर पाठक, तारा यन्त्रालय, काशी।